चैतन्य विहार

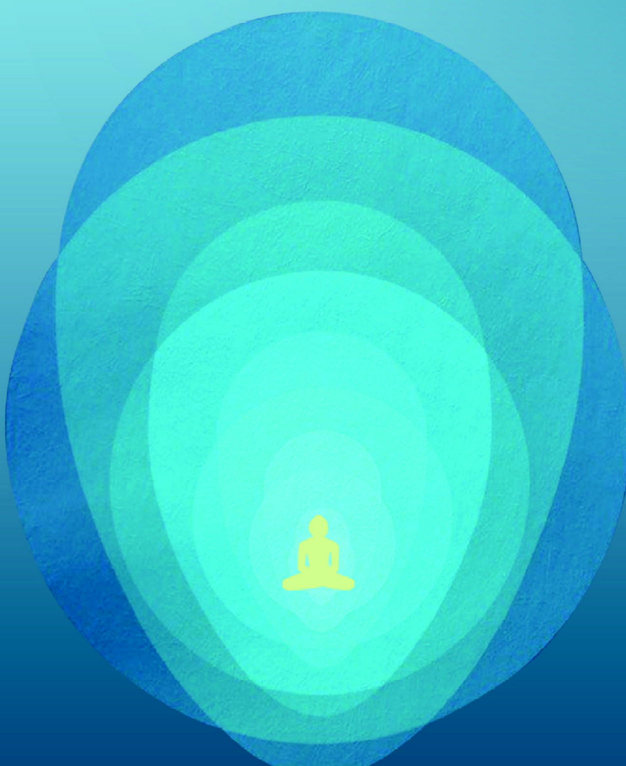

– 'युगल'

चैतन्य विहार

आलेख -
दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक

लेखक
बाबू 'युगल' जैन एम.ए., साहित्यरत्न
कोटा

सम्पादक
पं. देवेन्द्र कुमार जैन
बिजौलियां

प्रकाशक
आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा
मो. 94141-81512

प्रथम संस्करण : 2100 प्रतियाँ (23 जून 2002)
जैनदर्शन एवं व्यक्तित्व विकास शिविर, कोटा के अवसर पर

द्वितीय संस्करण : 1100 प्रतियाँ (परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण)
अध्यात्म मनीषी बाबू 'युगल' जी
शताब्दी समारोह पर आयोजित
आध्यात्मिक शिविर एवं विद्वत् संगोष्ठी
कोटा पर प्रकाशित (4,5,6 अप्रैल 2025)

मूल्य : स्वाध्याय

प्राप्ति स्थान –

♦ आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
85, चैतन्य विहार, आर्य समाज की गली,
रामपुरा, कोटा (राज.) 324006
मो. 94141-81512 (चिन्मय जैन)

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स
मो. 9928517346

प्रकाशकीय

लोगमांगल्य के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित बाबू जुगलकिशोरजी जैन 'युगल' एक प्रखर प्रज्ञापुरुष हैं। वर्तमान विशाल मुमुक्षु समुदाय के हृदय में प्रतिष्ठित मधुर वाणी एवं तात्त्विक ज्ञान से सुसज्जित सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ प्रवचनकार तो हैं ही, साथ ही उनकी लेखनी भी समृद्ध है, जिससे कई गहन तात्त्विक लेख, पूजा एवं कविताएँ रची गई हैं। भक्तिरस से युक्त आपके द्वारा रचित 'देव-शास्त्र-गुरु' एवं 'सिद्ध पूजन' सर्वश्रेष्ठ होने के साथ इस युग में हिन्दी साहित्य की अनुपम कृति है।

'चैतन्य विहार' लेखमाला पूज्य बाबूजी के सैद्धान्तिक लेखों का अनूठा संकलन है, जिसमें जैन सिद्धान्तों के रहस्य का अति सूक्ष्मता पूर्वक उद्घाटन किया है। इन्हें पढ़ने पर हृदय में चैतन्य रस उछलने लगता है।

जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषय सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान, अनेकान्त, अहिंसा, निमित्त-उपादान आदि का सुन्दर सर्वांग विवेचन पूज्य बाबूजी के गहन व गंभीर एवं स्पष्ट चिंतन द्वारा इन लेखांशों में प्रस्फुटित हुआ है, मुझे विश्वास है कि इस अमृत को आत्मसात करके भविजन अपने चिरकाल से चले आये मोह का क्षय कर अनन्त सुख की धारा में अवगाहन करेंगे।

यह 'चैतन्य विहार' संस्करण विशेष परिशोधन व परिवर्धन की छाया में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई के तत्त्वावधान में अध्यात्म मनीषी बाबू 'युगल' जी शताब्दी समारोह के अवसर पर आयोजन समिति कोटा की ओर से दिनांक 4,5,6 अप्रैल 2025 को कोटा में आयोजित तीन दिवसीय अखिल भारतीय आध्यात्मिक शिविर एवं विद्वत् संगोष्ठी पर आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा द्वारा प्रकाशित कर रहे हैं। अधिकाधिक जिज्ञासु बाबूजी के गहन गम्भीर एवं स्पष्ट तात्त्विक चिन्तन को हृदयंगम करेंगे – इसी भावना के साथ...

– चिन्मय जैन

आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा

सम्पादकीय

अध्यात्म मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा से सम्पूर्ण तत्त्वप्रेमी समाज सुपरिचित है। 'केवल रवि किरणों से..... ' जैसी अलभ्य काव्यकृति के प्रणेता आदरणीय 'बाबूजी' सचमुच अध्यात्म जगत की एक निधि हैं, जिनसे जैन जगत गौरवान्वित है। स्वभाव से अत्यन्त कोमल, किन्तु सिद्धान्तों के प्रति अचलमेरु सम व्यक्तित्व के धनी बाबूजी जैन तत्त्वज्ञान के गहन चिन्तक, सफल काव्यविद, ओजस्वी प्रवचनकार एवं वात्सल्य से ओत-प्रोत महान् तत्त्वज्ञ हैं। अत्यन्त सरल किन्तु सुदृढ़ साहित्यिक भाषा में जैन तत्त्वज्ञान का विवेचन/लेखन आपकी मौलिक विशेषता है जो श्रोता/पाठक के हृदय में व्याप्त चिर अज्ञानतम की परतों को उधेड़ते हुए उसे शुद्ध चिद्रूप की मंगलमय अनुभूति के सुरम्य आलोक से आलोकित करने में सक्षम है। अध्यात्म जैसा रूक्ष विषय भी आपकी वाणी/लेखनी का सहचार पाकर मधुर अमृत के समान बनकर चैतन्य परिणति को परितृप्त कर देता है।

आप इस युग के सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मवेत्ता चैतन्य विहारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अनन्यतम शिष्य हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पूज्य गुरुदेवश्री के तत्त्वज्ञान का एक-एक सूत्र आज आपके अन्तस्तल में जीवंत है और अध्यात्म पिपासुओं को गुरुदेवश्री के विरह का आभास नहीं होने देता। आप गुरुदेवश्री को जीवन और जीवन पथ प्रदाता मानते हैं। स्वयं आपके शब्दों में 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन और जीवन पथ मिला है।' तथा

''श्री कानजीस्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्तिदृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वासें, रुढ़ि, अन्धविश्वास, पाखंड एवं कोरे कर्म-कांड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्त्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्म-धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की।''

''सौराष्ट्र के सन्त ने भव के अन्त के लिए 'ध्रुव' का यह मंगलसूत्र लोक को दिया। उन्होंने सम्यग्दर्शन के जिस स्वरूप का अनुसंधान किया वह इस युग

का एक आश्चर्य है। सम्यग्दर्शन के इस सूक्ष्म एवं अद्भुत स्वरूप का इस युग को स्वप्न भी नहीं था। वास्तव में श्री कानजीस्वामी इस युग में सम्यग्दर्शन के आविष्कर्त्ता हैं और यह भवान्तक सम्यग्दर्शन इस युग को उनका सबसे महान वरदान है। उसके स्वरूप का बोध उनके बिना सम्भवित नहीं था।''

लोकेषणा से दूर आपका सहज, सरल एवं निश्छल व्यक्तित्व; साधर्मी वात्सल्य, विषमतम परिस्थितियों में दूरदर्शी निर्णय की क्षमता, अध्यात्म के साथ-साथ भक्तिरस से अभिसिंचित हृदय, विलासितामुक्त जीवनचर्या, असीम शारीरिक स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के मध्य भी तत्त्वज्ञान की अविराम चिंतनधारा आपके जीवन की अनुकरणीय विशेषतायें हैं।

आपका लेखन बहुआयामी है। आपने जहाँ अध्यात्म के उत्कर्ष को स्पर्श किया है वहीं भक्तिरस एवं सदाचार भी आपकी लेखनी व वाणी में अछूते नहीं रहे हैं।

यद्यपि आप अध्यात्म को जीवन प्राण-जीवन तत्त्व मानते हैं; तथापि अध्यात्म का अतिरेक आपको सह्य नहीं है। अध्यात्म के अतिरेक में जिनभक्ति की पावन परम्पराओं में समागत विकृतियों एवं दूषित आचार प्रवृत्ति के आप कट्टर विरोधी हैं।

आप तत्त्वज्ञान को एक अनूठी जीवन-कला मानते हैं और उसे ही जीवन का मूलाधार भी, स्वयं आपके शब्दों में -

''तत्त्व-ज्ञान सर्व समस्याओं के समाधान की एक अद्भुत जीवन कला है। वही जीवन का सर्व प्रथम कर्म और सर्वप्रथम धर्म है। उसके बिना जीवन असीम वैभव के बीच भी दरिद्री और अशांत है और उसके प्रादुर्भाव में सर्व जागतिक वैभव के बिना भी वह अकेला ही परमेश्वर है।''

सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं विषय के सम्बन्ध में आपका अत्यन्त ही हृदयग्राही चिंतन इसी ग्रन्थ में प्रस्फुटित हुआ है।

'ध्रुव तत्त्व' श्रद्धा के लिये मुख्य तत्त्व नहीं वरन् वह उसका सर्वस्व ही है। इसीलिये सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को मिटाकर ध्रुव का दर्शन करता है। वह अपने को 'गौण' की कक्षा में भी नहीं रखता। वास्तव में अपने को बचाकर श्रद्धेय को अपना समर्पण करने की वार्ता तो एकदम छल एवं छद्म है। स्वयं को मिटाये बिना समर्पण का स्वरूप ही नहीं बन सकता। इसीलिये सम्यग्दर्शन की दुनिया में सम्यग्दर्शन संज्ञावाली कोई वस्तु ही नहीं है।

और तो और, सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।

सम्यक्चारित्र के संदर्भ में आपने कहा – "चारित्र न तो घरबार आदि बाह्य संयोगों का वियोग मात्र है और न कर्मकाण्ड की छलांगें, न कोरा नग्नत्व ही चारित्र है और न महाव्रत, समिति आदि का पराश्रित शुभाचार। उपसर्ग एवं भयंकर कायक्लेश भी नहीं, वरन् स्वरूप में अंतर्लीन आनन्द वृत्ति ही चारित्र है।"

"शुभाचार जो मात्र मंद कषाय की ही पर्याय है उसे चारित्र मानना तो मिथ्यादर्शन है ही किन्तु वीतराग चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का सत्त्व ही स्वीकार न करना भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है।"

आज के बहुचर्चित विषय 'ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता' पर बाबूजी का चिंतन एकदम स्पष्ट है और वह आज का नया नहीं, वरन् गुरुदेवश्री की उपस्थिति में आत्मधर्म 1966 में भी प्रकाशित हो चुका है। ज्ञान की इस अद्भुत व्यवस्था के संदर्भ में आपके निम्न विचार अनुशीलन योग्य हैं-दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा एकरूप अखण्डस्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) परिणत होता रहता है। ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उस ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्यभाव है। जैसे दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिंबित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती।

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञेयाकार के इस अभाव को ज्ञान का 'अतत्' स्वभाव कहते हैं और अनेक ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनन्त लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन

करने में ज्ञान अत्यंत स्वतन्त्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है। न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है।

"ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिंबित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेय जैसे आकार की रचना ज्ञान की उपादान सामग्री से होती है। लोकालोकरूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अत: ज्ञान लोकालोक को जानता है यह कथन व्यवहार ही है, वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतंत्ररूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है।"

जैनाध्यात्म के गहन विषयों के अनुशीलन के साथ-साथ आपकी लेखनी से पूजा, अहिंसा एवं अपरिग्रह जैसे चरणानुयोग परक विषयों का भी पर्याप्त सृजन हुआ है। आप मानते हैं कि "तत्त्वज्ञान का चिंतन भक्ति की कोमल धारा का उल्लंघन करके नहीं होता।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति आदरणीय बाबूजी का एक ऐसा दस्तावेज है जो उनके अनन्त ज्ञान समुद्र का सर्वत: प्रतिनिधित्व करता है।

इनके प्रकाशन की सुदीर्घकालीन भावना आज साकार हो रही है - यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

इस सम्पूर्ण कार्य सम्पादन में मुझे ब्र. नीलिमा जैन एवं ब्र. सुमन जैन का सहयोग प्रकाशन सामग्री उपलब्ध कराने के रूप में प्राप्त हुआ है। साथ ही श्री अजय जैन, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट ने काफी परिश्रम पूर्वक इस कार्य को गति दी है, इनके बिना यह कार्य इतने अल्पसमय में हो पाना संभव नहीं था। डॉ. मानमल जैन, प्राध्यापक सुशील जैन, सुरेन्द्र जैन एवं ब्र. नीलिमा जैन ने प्रूफ संशोधन आदि में अतिशय श्रम पूर्वक सहयोग प्रदान किया एवं अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन कोटा, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल कोटा, श्री कुन्दकुन्द शिक्षण केन्द्र ट्रस्ट कोटा एवं वीर वनिता संघ कोटा के सदस्यगण ने इस प्रशस्त कार्य को सम्पन्न करने का अवसर एवं उत्साह प्रदान किया। तदर्थ सभी का आभारी हूँ।

आदरणीय बाबूजी का ही इसमें सब कुछ है अत: जो भी विशेषतायें हैं वे पूज्य बाबूजी की हैं और कमियों का जिम्मेदार मैं हूँ। इसलिये सुधी पाठकों से यह आग्रह है कि यदि किसी प्रकार की त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो सूचित करने का अनुग्रह करें।

दिनांक : 23 जून, 2002 **देवेन्द्रकुमार जैन,** बिजौलियाँ

प्रस्तवन

– बाबू 'युगल' जैन, कोटा

जैन दर्शन विश्व के सभी दर्शनों से एक निराला दर्शन है क्योंकि वह अनादि अनंत, अकृत एवं स्वयंसिद्ध वस्तु–व्यवस्था की वज्र चट्टान पर खड़ा है। कालचक्र के अनंत प्रवाह में इस दर्शन के प्रणेता तीर्थंकर आदि महापुरुषों से लेकर अनेक आचार्य एवं आत्मवेत्ता अगणित ज्ञानी पुरुष हुए हैं, जिन्होंने समय–समय पर इस दर्शन का तत्त्वगर्भित प्रतिपादन किया है। इसी प्रवाह में बीसवीं सदी में इस दर्शन के सिद्धान्त वेत्ता अध्यात्मिक महापुरुष पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी हुए हैं, जिनकी दिव्यवाणी से लाखों लोगों को जैन दर्शन के रहस्य उपलब्ध हुए हैं।

मेरी काव्य कृति 'चैतन्य वाटिका' की तरह इस लेखमाला 'चैतन्य विहार' का भी सम्पूर्ण श्रेय पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को ही है। जैन दर्शन के सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक विषयों का बोध मुझे तब हुआ, जब मैं सन् 1950 में श्रावणमास के शुक्ल पक्ष में कोटा के अध्यात्म विधाता स्व. पू. बाबू ज्ञानचंदजी सा. के साथ पहली बार सोनगढ़ पू. गुरुदेवश्री के चरणों में पहुँचा और उनकी दिव्य वाणी सुनी वह वाणी सुनकर मेरा कायापलट हो गया और मेरी सर्व मिथ्या आस्थाओं का अंत हो गया।

इस लेखमाला के सभी लेख जिनागम सम्मत हैं और इसमें संदेह का किचिंत् अवकाश नहीं है।

इस संग्रह के दो लेखों के विषय काफी गंभीर एवं आत्महितकर हैं – एक 'पू. गुरुदेवश्री का जीवन दर्शन' एवं दूसरा 'ज्ञानस्वभाव' – ये लेख पूज्य गुरुदेव ने स्वयं देखकर प्रमाणित किये हैं और गुजराती आत्मधर्म (1966) में भी प्रकाशित किये गये हैं। पूज्य गुरुदेव के जीवन–दर्शन के लेख में पू. गुरुदेव के प्रमुख एवं प्रिय विषय 'सम्यग्दर्शन' का विशद एवं सर्वांग विवेचन किया गया है एवं सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इतने सटीक एवं मार्मिक कथन किये गये हैं कि "सम्यग्दर्शन वास्तव में ध्रुव का अहं नहीं वरन् स्वयं ध्रुव है एवं उसने अपना कोना–कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।"

इसी प्रकार ज्ञान स्वभाव लेख में सम्यग्ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजनभूत एवं चर्चित पहलू स्व-पर प्रकाशक का आगम सम्मत, सुबोध एवं बुद्धिगम्य विवेचन है, जिसमें युक्तिपूर्व यह सिद्ध किया गया है कि 'मैं परपदार्थ को जानता हूँ अथवा मेरे ज्ञान में पर जानने में आता है', इसे मिथ्यादर्शन घोषित किया गया है क्योंकि ये व्यवहार वचन हैं और व्यवहार वचन अथवा नय श्रद्धेय नहीं है, उसकी श्रद्धा स्पष्ट मिथ्यादर्शन है। इस प्रकरण की साक्षी समयसार की 270 गाथा एवं समयसार के 271 कलश की विद्वान श्री राजमलजी कृत कलश टीका है। आगम में अनेक स्थलों पर इस कथन की पुष्टि उपलब्ध होती है, इससे आत्मा की स्व-पर प्रकाशक शक्ति के स्वरूप में कोई बाधा नहीं आती।

इसीप्रकार इस संकलन में संगृहीत तत्त्वज्ञान-जीवन की एक अनूठी कला, महावीर का अनैकान्तिक अहिंसा दर्शन, अपरिग्रह, अनेकान्त और निमित्त-उपादान आदि अन्य विषय भी हमें जैन तत्त्वज्ञान की दिशा में पावन आलोक प्रदान करेंगे - ऐसा विश्वास है।

मेरे इन बिखरे हुये विषयों की प्रतिलिपि करके उन्हें सुरक्षित रखने में मेरी सुपुत्री ब्र. नीलिमा को ही एक मात्र श्रेय है। साथ ही जैन युवा फेडरेशन कोटा के कर्मठ एवं उत्साही सदस्यों ने मेरे काव्य संग्रह चैतन्य वाटिका के साथ इस लेखमाला को त्वरा से प्रकाशित करने में रात्रि दिवस जो अथक श्रम किया है तदर्थ मैं उन सभी का अत्यन्त आभारी हूँ।

1 जून, 2002 **कोटा**

अनुक्रम

–	आर्हत्-वन्दना	11
1.	जैनदर्शन : स्वरूप एवं समीक्षा	13
2.	तत्त्वज्ञान : एक अनूठी जीवन-कला	27
3.	सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम)	34
4.	सम्यग्दर्शन का विषय (द्वितीय)	45
5.	ज्ञानस्वभाव-सम्यग्ज्ञान	71
6.	महावीर का अनैकान्तिक अहिंसा-दर्शन	84
7.	अपरिग्रह : एक अनुचिंतन	96
8.	आधुनिक वैज्ञानिक-प्रगति और जैनदर्शन	111
9.	अनेकान्त-स्याद्वाद : एक विवेचन	122
10.	निमित्त-उपादान (प्रथम-आलेख)	142
11.	निमित्त-उपादान (द्वितीय-आलेख)	156
12.	हिंसा एवं अहिंसा : एक दार्शनिक चिन्तन	171

आर्हत्-वन्दना

– बाबू 'युगल' जैन, कोटा

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण,
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन!

तुम चिरंतन
मैं लघुक्षण
जागरण तुम
मैं सुषुप्ति
दिव्यतम आलोक हो प्रभु
मैं तमिस्त्रा हूँ अमा की,
क्षीण अन्तर, क्षीण तन-मन
तुम चिरंतन...

शोध तुम
प्रतिशोध रे ! मैं
क्षुद्र-बिन्दु,
विराट हो तुम,
अज्ञ मैं पामर अधमतम
सर्व जग के विज्ञ हो तुम,
देव ! मैं विक्षिप्त उन्मन्
तुम चिरंतन...

चेतना के
एक शाश्वत
मधु मदिर
उच्छ्वास ही हो
पूर्ण हो, पर अज्ञ को तो
एक लघु प्रतिभास ही हो,
दिव्य कांचन, मैं अकिंचन
तुम चिरंतन...

व्याधि मैं
उपचार अनुपम
नाश मैं
अविनाश हो रे!
पार तुम, मँझधार हूँ मैं
नाव मैं, पतवार हो रे!
मैं समय, तुम सार अर्हन्।
तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण,
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन!

❀❀❀

जैनदर्शन : स्वरूप एवं समीक्षा

जैनदर्शन अनादि एवं प्राकृतिक वस्तु–व्यवस्था के वज्र–धरातल पर प्रतिष्ठित विश्व के समस्त दर्शनों से बिल्कुल अलग एकमात्र मुक्ति–प्रदाता विलक्षण–दर्शन है। यह दर्शन 'सर्वथा'–असत् वस्तु की उत्पत्ति किसी भी प्रकार से संभव न होने से उसका नितांत–निषेध करता है। 'सर्वथा–असत्' वस्तु की उत्पत्ति न होना, यह नैसर्गिक–वस्तु–व्यवस्था है। इस वस्तु–स्थिति के आलोक में विश्व की प्रत्येक ही वस्तु पूर्ण–स्वतन्त्र, अकृत्रिम, स्वयंसिद्ध एवं अनादि सिद्ध हो जाती है और जैनदर्शन इसी अकृत्रिम एवं स्वयंसिद्ध–वस्तु–व्यवस्था की 'अनादिता' एवं 'अनन्तता' के परम–सत्य की सघन–चट्टान पर खड़ा है। अन्य दर्शन 'सर्वथा–असत्' सृष्टि के उत्पाद के श्रद्धावान् होने से इस अनादि–वस्तु–व्यवस्था की परम–सत्यता का निषेध करते हैं, अतः इसप्रकार वे दर्शन अपने परम–सत्य होने की गर्वोक्ति को स्वयं अपने ही हाथों से चूर कर डालते हैं।

जैनदर्शन के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी दर्शन एक ईश्वर को सृष्टि का उत्पादक स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सर्वथा नवीन–जन्म से पहले उसका किसी भी रूप में कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि वे दर्शन 'सर्वथा–असत्' वस्तु के रूप में आकाश के फूल, गधे के सींग और बंध्या के पुत्र आदि के अस्तित्व का पूर्ण–निषेध भी करते हैं; किन्तु ईश्वर और सृष्टि के रूप में 'सर्वथा–असत्' की

उत्पत्ति के सुदृढ़–समर्थक होने से वे सभी दर्शन स्वयं अपने ही द्वारा पूर्वापर–विरोध से ग्रस्त होकर सत्य से बहुत दूर घने–अंधकार में चले जाते हैं। किन्तु जैनदर्शन में 'सर्वथा–असत्' वस्तु की उत्पत्ति को तनिक भी स्थान नहीं होने से इस विश्व में अनादि से जितनी जड़–चेतन वस्तुयें हैं, उतनी ही अनन्तकाल तक रहेंगी, एक भी कम या अधिक नहीं। अतः एक ईश्वर को 'सर्वथा–असत्' सृष्टि का जन्मदाता अथवा कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता स्वीकार करना स्वयं ही मात्र काल्पनिक सिद्ध हो जाता है; क्योंकि 'सर्वथा–असत्' वस्तु का 'उत्पाद' और 'सत्' का 'सर्वनाश' तो कभी भी संभव नहीं है।

एक महत्त्वपूर्ण–युक्ति यह है कि जैनदर्शन के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी दर्शनों के परस्पर–विपरीत–मन्तव्यवाले अलग–अलग सर्वथा नये–नये प्रवर्तक हुए हैं और वे सभी प्रवर्तक अपने दर्शन के 'परम–सत्य' होने की घोषणा करते हैं। किन्तु परस्पर–विपरीत मन्तव्य वाले होने से उनकी सत्यता ही पूरी तरह खतरे में पड़ जाती है और सर्वथा नये होने के कारण उनका सत्य भी मनोकल्पित होने से बिल्कुल नया ही होता है। किन्तु **वास्तव में सत्य कभी भी नया नहीं होता। वह अनादि–अनन्त एवं सनातन ही होता है।** जैसे यह सनातन–सत्य है कि 'सूर्य का उदय सदैव पूर्व में ही होता है', इसलिए यदि कोई इसका प्रतिवाद करे, तो वह लोक में सर्वत्र महामूर्ख एवं असत्यवादी ही माना जाता है।

सभी दर्शनों में जैनदर्शन इसलिए परम–सत्य दर्शन है; क्योंकि उसका कोई प्रवर्तक नहीं है, अतः वह अनादि है और एकमात्र अनादि–अनन्त सनातन वस्तु–व्यवस्था ही इस दर्शन के यथार्थ–प्रतिपादन का आधार अथवा विषय होने से इसकी सत्यता असंदिग्ध है।

इसप्रकार जैनदर्शन के तीर्थंकर, वीतराग–सर्वज्ञ–अरिहन्त–परमात्मा तथा वीतराग नग्न–दिगम्बर महान्–सन्त एवं उनके श्रद्धावान आत्म–ज्ञानी–गृहस्थ–महापुरुष इस सनातन–वस्तु–व्यवस्था के अनादि से **वास्तविक–प्रतिपादक ही रहे हैं, किन्तु प्रवर्तक नहीं।** प्रत्येक अज्ञानी–आत्मा आत्मानुभूति–सम्पन्न–महापुरुषों से ही अपने ध्रुव एवं परम–शुद्ध आत्मा का स्वरूप पूरी तरह समझकर उसी जन्म अथवा जन्मान्तर में मात्र अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है; किसी की कृपा अथवा भाग्य के भरोसे नहीं। इसतरह आत्मज्ञानी–महापुरुष एवं परमात्मा बनने की परम्परा भी अनादि–अनन्त सिद्ध हो जाती है और जैनदर्शन भी विश्व के समस्त दर्शनों से अलग अनादि–अनन्त सत्य–दर्शन सिद्ध हो जाता है। यदि कोई यह पूछे कि जैनदर्शन का सबसे पहला–महापुरुष कौन हुआ ? तो यह प्रश्न ही नितांत अविवेक–पूर्ण है; क्योंकि सबसे पहला कोई महापुरुष होता ही नहीं। किन्तु आत्मज्ञानी–महापुरुषों से उपदिष्ट होकर ही मात्र अपने पुरुषार्थ से महापुरुष बना जाता है। ऐसा विश्व का सार्वदेशीय एवं सार्वकालिक अकाट्य–नियम है। एक लौकिक–प्रश्न भी होता है कि विश्व में सबसे पहला प्रोफेसर कौन हुआ ? तो इस प्रश्न का सर्वमान्य–उत्तर भी यही है कि विश्व में सबसे पहला कोई प्रोफेसर होता ही नहीं, किन्तु अन्य सुयोग्य–प्रोफेसर से शिक्षित होकर ही कुशल–विद्यार्थी मात्र अपने परिश्रम से प्रोफेसर बनता है। यही महापुरुष बनने की अनादि–अनन्त प्रक्रिया रहती है।

जैनदर्शन अनादि–अनन्त और परस्पर अत्यन्त–भिन्न एवं स्वतंत्र, प्रत्येक जड़ और चेतन–वस्तु के स्वरूप का यथार्थ–प्रतिपादक होने से हमारा चैतन्य–स्वरूप आत्मा भी जगत् के अनन्त जड़–चेतन–पदार्थों

से सर्वथा–पृथक् एवं स्वतन्त्र सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार अपनी आत्मा की सीमा से विश्व के समस्त पदार्थ सदैव अत्यन्त–बाह्य होने से वे हमारे लिए रंचमात्र भी इष्ट–अनिष्ट और साधक–बाधक नहीं होते; अतः सदा ज्ञान एवं आनन्द जैसे अनन्त–गुणों से विभूषित, अतीन्द्रिय, निर्विकार एवं अविनश्वर एकमात्र हमारा आत्मतत्त्व ही हमारे चिन्तन एवं अनुभूति का विषय रह जाता है। जैसे लोक में भी हम निरन्तर अपनी ही गृह–व्यवस्था के चिन्तन एवं अनुभूति में तल्लीनता से व्यस्त रहते हैं; किन्तु अपने से पराये घर एवं उनकी व्यवस्था कभी भी तन्मयता से हमारे चिन्तन का विषय नहीं होती। इस विधि से शरीरादि सर्व ही पर–पदार्थों के प्रति हमारे मिथ्या–अहं एवं ममत्व से उत्पन्न मोह–राग–द्वेष, पाप–पुण्य एवं सुख–दुःख आदि की क्षणभंगुर एवं व्याकुल–विकारी–वृत्तियों का हमारे चित्त में कभी प्रादुर्भाव ही नहीं होता।

अतः सदैव अपनी अनन्त–शक्तियों से समृद्ध, परम–शुद्ध एवं अविनश्वर–आत्मद्रव्य के अहं एवं अनुभूति से उत्पन्न परम–वीतराग–भाव के आह्लाद में अविराम–तल्लीन हमारा आत्मा विलक्षण–आनन्दमय, अनुपम एवं सर्वोत्कृष्ट मुक्त–अवस्था से विलसित होकर सदा के लिए अशरीरी सिद्ध–परमात्मा बन जाता है।

इसप्रकार विश्व में अनादि–अनन्त जैनदर्शन ही परम–निष्पक्ष–दृष्टिकोण से चिरस्थायी सुख–शांति से अलंकृत मुक्ति का एकमात्र–पथ है।

जैनदर्शन की यह मुक्ति अनादि से ही उसके 'अनेकान्त–सिद्धान्त' की अचल–शिला पर आधारित रही है; क्योंकि 'अनेकान्त' ही वस्तु के अवलोकन की एकमात्र निर्दोष–पद्धति है। अतः जैनदर्शन को

'अनेकान्त-केतन' अर्थात् अनेकान्त को 'जैनदर्शन का ध्वज' भी कहते हैं।

सचमुच तो विश्व के समस्त ही दर्शन इस अनेकान्त-सिद्धान्त से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और वे इसका पूर्णरूप से निषेध भी करते हैं। कुछ दर्शन अनेकान्त को बाजार की सुनी-सुनाई अफवाहों की तरह समझौतावादी-सिद्धान्त कहते हैं। इस संदर्भ में उनका कथन है कि "जो मैं कहता हूँ, वही सत्य नहीं है, परन्तु अन्य दर्शन अथवा पुरुष जो कहते हैं, वह भी किसी दृष्टिकोण से सत्य है", किन्तु अन्य-दर्शनों को प्रसन्न रखने के लिए कल्पित उनका समझौते का यह सिद्धान्त सर्वथा-असत्य, निराधार एवं अव्यावहारिक रहा है; क्योंकि समझौतावादी-दर्शन के किसी पुरुष की पत्नी को यदि दूसरे दर्शन का कोई पुरुष अपनी पत्नी मानता हो, तो क्या वह पुरुष उस दूसरे दर्शन के पुरुष के साथ समझौता करने को तैयार होगा? समझौता तो बहुत दूर, बल्कि अविलम्ब ही वह उसे कारावास दिखायेगा। पुनः यदि दार्शनिक-स्तर पर समझौते के तथाकथित-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये, तो वह सिद्धान्त बन जाने के काण उसे विश्व की समस्त ही घटनाओं एवं वार्ताओं के विवाद पर सदैव ही घटित कर उनका सफल-समाधान करना होगा, जो कि सर्वथा असंभव है; क्योंकि सिद्धान्त त्रिकाल-स्थायी ही होते हैं और उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। इस सिद्धान्त को न्यायालय के न्यायाधीश भी अपने संविधान के नियमों के मूल्य पर कभी स्वीकार नहीं करेंगे; क्योंकि वहाँ फैसला एकांत-सत्य के पक्ष में ही होता है और असत्य-पक्ष को पराजित घोषित कर दिया जाता है। यदि न्यायालय भी समझौते का सिद्धान्त अपना ले, तो संविधान की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता न रहने

से वह 'रद्दी की टोकरी' में चला जायेगा और संविधान के विनाश के साथ विश्व के समस्त न्यायालय ही बन्द हो जायेंगे। तथा अन्य दर्शनों के सिद्धान्त परस्पर-विरुद्ध होने से उनमें किसी भी स्तर पर समझौता संभव ही नहीं है, अतः जैनदर्शन के परम-सत्य एवं युक्तिसंगत 'अनेकान्त-सिद्धान्त' को 'समझौतावादी' मानना नितान्त काल्पनिक एवं मिथ्या है।

यह 'अनेकान्त-सिद्धान्त' लौकिक नहीं, किन्तु लोकोत्तर मुक्ति-प्रदाता महा-सिद्धान्त है। 'अनेकान्त' का अर्थ 'अनेक अन्त' अर्थात् 'अनन्त-धर्म' होता है। ये धर्म प्रत्येक ही वस्तु में अनन्त होते हैं। अनैकान्तिक-वस्तुव्यवस्था के अनुरूप विश्व की प्रत्येक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों (शक्तियों) के अगणित धर्म-युगल होते हैं।

ये परस्पर-विरुद्ध धर्म-युगल वस्तु में विरोध नहीं, किन्तु अविरोध-भाव से वस्तु में वस्तुत्व को उपजाते हुए वस्तु की सुदृढ़-संरचना करते हैं। जैसे वस्तु का 'अस्ति' धर्म वस्तु को अपने संपूर्ण-वैभव (द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव) से संयुक्त होकर अस्तिरूप रखता है तथा इससे विरुद्ध 'नास्ति-धर्म' वस्तु के भीतर ही रहता हुआ वस्तु को अन्य समग्र ही वस्तुओं के सत्त्व के पूर्ण-अभावरूप अर्थात् नास्तिरूप रखता है, अतः प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अस्तिरूप भी है और नास्तिरूप भी है। इसप्रकार समस्त ही वस्तुएँ पूर्व व पश्चिम-दिशा की तरह एक ही समय में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर-विरुद्ध अनन्त-धर्ममय होने से 'अनेकान्त-स्वरूप' हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव के 'समयसार' परमागम की 'आत्मख्याति' टीका के 'परिशिष्ट' में आचार्यदेव अमृतचन्द्र 'अनेकान्त' को निम्न

प्रकार परिभाषित करते हैं—"जो वस्तु तत् है, वही अतत् है; वही एक है, वही अनेक है; जो सत् (अस्ति) है, वही असत् (नास्ति) है; जो नित्य है और वही अनित्य है"— इसप्रकार "एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना ही अनेकान्त है।" यहाँ आचार्यदेव ने वस्तु के तत्-अतत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि परस्पर-विरुद्ध धर्म-युगलों का स्वरूप प्रतिपादित करके प्रत्येक वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता को ही प्रसिद्ध किया है।

लोक-व्यवस्था में भी अनैकान्तिक-दृष्टि से नहीं, किन्तु लौकिक-दृष्टि से परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों के द्वारा विश्व के महान्-महान् कार्य संपन्न होते हुए देखे जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप विश्व के समस्त राष्ट्रों के मंत्रिमण्डलों में एक गृहमंत्री होता है और एक विदेशमंत्री। गृहमंत्री राष्ट्र की संपत्ति और शांति को सुरक्षित रखते हुए राष्ट्र की सम्पूर्ण अंतरंग-व्यवस्था करता है, अतः गृहमंत्री 'अस्ति-धर्म', स्थानीय है और विदेशमंत्री राष्ट्र में ही रहकर राष्ट्र को बाह्य-अतिक्रमण एवं हस्तक्षेप से सुरक्षित रखता है। यदि गृहमंत्री के साथ उससे विरुद्ध-कार्य करनेवाला विदेशमंत्री न हो, तो राष्ट्र में बाह्य-अतिक्रमण का अवरोध न होने से विप्लव होकर राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा, अतः विदेशमंत्री 'नास्ति-धर्म', स्थानीय है। इसप्रकार परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों से राष्ट्र की व्यवस्था पूर्ण शान्तिपूर्वक, निर्विघ्न संचालित होती है।

इसीप्रकार हमारे स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए भी हमारे शरीर में परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियाँ अर्थात् दो धर्म पाये जाते हैं। एक लाल-· क्æ(Red Blood Corpuscules) होते हैं, जो संतुलित रहकर शरीर के अंतरंग-स्वास्थ्य को व्यवस्थित रखते हैं। ये अगणित लाल-कण

'अस्ति-धर्म-स्थानीय' हैं तथा दूसरे श्वेत-कण (White Blood Corpuscules) होते हैं, जो संतुलित रहकर अवरोधक-शक्ति के रूप में शरीर को बाहरी विषैली-विकृतियों से सुरक्षित रखकर स्वास्थ्य को सुचारू बनाये रखते हैं। ये अगणित श्वेत-कण 'नास्ति-धर्म-स्थानीय' हैं। इसप्रकार परस्पर-विरुद्ध ये दो शक्तियाँ एक ही साथ रहकर हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करती रहती हैं।

इन परस्पर-विरुद्ध-धर्मों को 'सापेक्ष-धर्म' भी कहते हैं, क्योंकि इनका विवेचन भिन्न-भिन्न अपेक्षा से होता है। जैसे वस्तु अपने वैभव (स्व चतुष्टय) द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की अपेक्षा 'अस्ति' (सत्) रूप है और अन्य संपूर्ण विश्व के वैभव का अपने में अभाव होने की अपेक्षा 'नास्ति' (असत्) रूप है। उदाहरण के रूप में लोक में भी एक ही व्यक्ति में पिता-पुत्र, चाचा-ताऊ, मामा-भानजा आदि परस्पर-विरुद्ध अनेक लौकिक-संबंध पाये जाते हैं, और वह व्यक्ति जिस अपेक्षा से पिता है, उसी अपेक्षा से पुत्र नहीं है, दोनों ही दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न-भिन्न होते हैं। इस कृत्रिम लोक-व्यवस्था के सदृश अकृत्रिम एवं अनादि, लोकोत्तर अनैकांतिक-वस्तुव्यवस्था में भी प्रत्येक ही वस्तु सदैव परस्पर-विरुद्ध एवं सापेक्ष अनन्त-धर्मात्मक होती है। इसप्रकार दोनों अपेक्षायें सुयुक्तियों से अबाधित परम-सत्य होने से विश्व के स्वरूप-सौन्दर्य की नियामिका है।

वास्तव में तो **विवेचन की सापेक्षता के कारण** इन धर्मों को सापेक्ष-धर्म कहने पर भी ये धर्म किसी भी अपेक्षा के बिना सदैव अपने परम-स्वतन्त्र, सुन्दर-स्वरूप में विद्यमान रहने से निरपेक्ष ही होते हैं और निरपेक्षता तो जैनदर्शन का प्राण ही है।

अनेकान्त-स्वरूप वस्तु का यह विवेचन 'स्याद्वाद' अर्थात्

'श्रुतज्ञान' के द्वारा होता है। जब 'स्याद्वाद' रूप 'श्रुतज्ञान' एक ही समय में अस्ति-नास्ति आदि अनन्त-धर्मरूप पूरी-वस्तु को विषय करता है, तब इस पद्धति को 'श्रुतज्ञान-प्रमाण' कहते हैं और वह 'स्याद्वाद' अर्थात् 'श्रुतज्ञान' का अंश (नय) उसी वस्तु के एक-एक धर्म का विवेचन उसी धर्म की अपेक्षा से करता है, तब स्याद्वाद की इस शैली को 'नयज्ञान' कहते हैं। 'स्याद्वाद' का अर्थ—'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से 'वाद' अर्थात् 'कहना' होता है। वास्तव में स्याद्वाद 'वाचक' है और अनेकान्त-स्वरूप वस्तु 'वाच्य' है। श्रुतज्ञान-प्रमाण के अंश को 'नय' कहते हैं और अनन्त-धर्मात्मक अनेकान्त-स्वरूप वस्तु के अंश को 'धर्म' कहते हैं।

'स्याद्वाद' यथार्थ में तो 'श्रुतज्ञान' ही है, किन्तु वचन के बिना वस्तु के स्वरूप का बोध नहीं होता, अतः सापेक्ष वचन-पद्धति को भी 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वादरूप वचन एवं ज्ञान का विषय परम-सत्य अनैकांतिक-वस्तु-व्यवस्था ही होती है।

आचार्यदेव श्री अमृतचन्द्र 'समयसार' की 'आत्मख्याति' टीका के 'परिशिष्ट' में स्याद्वाद के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसकी महिमा में लिखते हैं—"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हत्-सर्वज्ञ का एक अस्खलित (निर्बाध) शासन है।" वह (स्याद्वाद) "सब अनेकान्तात्मक हैं"—इसप्रकार उपदेश करता है; क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है। 'सर्व वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप हैं' - इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है, सो वह असत्यार्थ-कल्पना से नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त-स्वभाव है, वैसा ही कहता है।

इन अनन्त-धर्मों के साथ प्रत्येक वस्तु में अनन्त ही 'गुण' पाये

जाते हैं। 'धर्म' व 'गुण' के स्वरूप में अन्तर होता है। धर्म परस्पर-विरुद्ध और सापेक्ष होते हैं। **परस्पर-विरुद्ध एवं सापेक्ष होने के कारण दो-दो धर्म-युगल साथ ही रहते हैं और उनकी पर्याय नहीं होती।** इसका सबल-हेतु यह है कि पर्याय में विकार की संभावना होती है। तब जैसे नित्य-धर्म में विकारी परिणमन हुआ, तो वह अवश्य अनित्यरूप ही होगा और ऐसा होने से स्वरूप (सत्ता) से ही पूरी वस्तु 'अनित्य' हो जाने से नित्यता के सर्वनाश के साथ सम्पूर्ण ही वस्तु का एक-क्षण में ही पूर्णरूप से नाश हो जायेगा। गुण-परस्पर-विरुद्ध और सापेक्ष नहीं होते, किन्तु प्रत्येक गुण भिन्न-स्वभाववाला, निरपेक्ष ही होता है तथा प्रत्येक गुण 'द्रव्य' की तरह सदैव 'ध्रुव' होने पर भी प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक गुण की प्रकृति या स्वभाव के अनुरूप गुण के अतिरिक्त एक समयवर्ती क्षणभंगुर-पर्याय होती है। उस पर्याय को ही 'गुण की पर्याय' अथवा 'गुण का परिणमन' कहते हैं। इसीप्रकार अपने शुद्ध चैतन्य-द्रव्य में अनन्त ही सुमधुर-गुण, शाश्वत तथा सघनरूप में एकीभूत एवं परिव्याप्त होने से निज-शुद्धात्मानुभूति के क्षण में अनन्त ही गुणों की अनन्त ही पर्यायों का एक स्वादिष्ट-पेय की तरह एकमेक-मिलित, अखण्ड, इन्द्रियातीत, अत्यंत-विलक्षण एवं असीम सुस्वादु-रसास्वादन होता है।

अनैकांतिक-ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण-विश्व की सत्ता अत्यन्त-भिन्न ज्ञात हो जाने पर निखिल-जगत् से रंचमात्र भी प्रयोजन नहीं रहने से सर्वथा-निरपेक्ष अपने चैतन्यतत्त्व की अनुभूति ही क्रियमाण होती है। अनुभूति में अनन्त-गुणात्मक, शुद्ध, शाश्वत-आत्मद्रव्य ही श्रद्धा व ज्ञान का विषय होता है। अनन्त-सापेक्ष-धर्म व क्षणभंगुर-पर्याय उसमें सम्मिलित नहीं होते, क्योंकि

धर्म परस्पर-विरुद्ध-स्वभावी, द्रव्य-पर्याय से सम्बद्ध होने से एवं परस्पर-विरुद्धता तथा सापेक्षता के कारण दो-दो धर्म साथ ही साथ रहने से तथा पर्याय क्षणभंगुर अनित्य होने से उनके 'अहं' एवं 'अनुभूति' में आकुलतापूर्ण-विकल्पों का जन्म हुए बिना नहीं रहता।

जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु को एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक स्वीकार करता है। प्रतिसमय नयी-पर्याय का उत्पाद तथा पूर्व-पर्याय का व्यय अर्थात् नाश होता है और 'द्रव्य' शाश्वत, ध्रुव अर्थात् वही का वही बना रहता है। जैसे समुद्र में एक तरंग उत्पन्न होती है, दूसरे ही क्षण उसका अभाव हो जाता है और समुद्र पूरा का पूरा वही का वही ध्रुव बना रहता है। इसप्रकार द्रव्य-पर्याय एक ही पदार्थ के अभिन्न-अवयव होने पर भी पर्याय क्षणभंगुर होने से सम्यक्-श्रद्धा के विषय व आत्मानुभूति की प्रयोग-पद्धति में शामिल नहीं की जाती; क्योंकि श्रद्धा-गुण की पर्याय का स्वभाव ही यह है कि वह विश्व में अपनी आत्मा की सत्ता के सिवाय दूसरे पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती। स्व-पर की सत्ता की स्वीकृति 'ज्ञान का विभाग' है। अतः जिस क्षण श्रद्धा-गुण की पर्याय अपने नितान्त, क्षणभंगुर मोह, रागादिभाव अथवा विश्व के किसी भी द्रव्य या भाव को विषय करती है; तो वह उसी में 'अहं' करती हुई उसे अपनी पूरी-सत्ता अर्थात् पूरा-आत्मा ही मानती है। अतः प्रशिक्षण उसके नाश अथवा परिवर्तन के साथ श्रद्धा की पर्याय को अपनी पूरी-आत्मा के ही नाश की प्रतीति होती है। फलस्वरूप प्रतिसमय मृत्यु की तरह असह्य एवं भयंकर-आकुलता होती है।

जैसे वन का राजा शेर सर्कस के कैप्टिन द्वारा किसी तरह पिंजरे में फँसा लिया जाता है और अत्यन्त-निर्दयता-पूर्वक बिजली के करंट

एवं बिजली के चाबुक मार–मारकर इतना भयभीत एवं त्रस्त कर दिया जाता है कि उसे बिजली के चाबुक के स्मरण–मात्र से कंपन होने लगता है; अतः वह कैप्टिन के संकेतों पर गधे की तरह नाचता है और कैप्टिन को अपने से महा–शक्तिशाली तथा वह शेर अपने को उसके समक्ष पूरा–शक्तिहीन मानता हुआ दिन–रात महा–आकुल–व्याकुल रहता है। यद्यपि शेर की इस महादयनीय–दुर्दशा के समय भी शेर में अपनी स्वाभाविक, स्थायी, अपार–शक्ति सदैव विद्यमान है; किन्तु ऐसी सुचारु–स्थिति में भी उसकी इस महादुःखमय–दशा का एकमात्र–कारण यह है कि इस क्षणिक–दुर्दशा को ही अब अपनी स्थायी–अवस्था मान लेने से उसे अपनी प्रतिक्षण–विद्यमान अक्षय–महाशक्ति का विस्मरण–मात्र हो गया है। यदि इस महासंताप की दशा में भी उसे अपनी अविनश्वर–शक्ति का स्वयं अथवा किसी के द्वारा स्मरण–मात्र हो जाये, तो वह तत्क्षण ही पूरे शौर्य से दहाड़ मारता हुआ आक्रमण करके कैप्टिन को फाड़ ड़ालता है और उसकी बेहद–संकटमय इस दुर्दशा का सदा के लिए अंत हो जाता है। इसीतरह चिरन्तन, अनन्त–शक्ति ध्रुव–चैतन्य–द्रव्य की सदैव विद्यमानता में भी अपने को मात्र क्षणिक–नश्वर–पर्याय जितना ही अविराम–अनुभव करना प्रतिक्षण–महाक्लेशकारी ही होता है और यही आत्मा के अनन्त–कष्टों का एकमात्र–कारण है।

पर्याय के क्षणिकत्व के इस विवेचन में एक तथ्य अत्यन्त–स्मरणीय है कि पर्याय क्षणभंगुर होने से हमारे लिए अनिष्ट तथा घृणा एवं राग–द्वेष का विषय नहीं है। किन्तु क्षणिकता एवं नश्वरता तो उसका अमिट–स्वभाव ही है। अतः पर्याय–मात्र के प्रति हमारा प्रतिक्षण ज्ञेयत्वरूप–साम्यभाव ही अपेक्षित है। वास्तव में सम्पूर्ण ही विश्व में

इष्ट-अनिष्ट का आत्यंतिक-अभाव होने से रागद्वेष के लिए किंचित्-मात्र भी कोई स्थान नहीं है। ऐसी पावन-वस्तुस्थिति की उपेक्षा करके अज्ञानी-जीव पर्याय की स्वाभाविक-नश्वरता, निरपेक्षता एवं स्वतन्त्रता होने पर भी उसे अपनी काल्पनिक एवं कलुषित मिथ्या-चेष्टा से मिटाने का प्रयत्न करता हुआ तथा उसके साथ अतिरिक्त-उपाधि के रूप में अपना सर्वथा-कल्पित एवं अनुचित-अहं एवं ममत्व जोड़कर उसे बलात् स्थायित्व देकर अपने अधिकार में रखने का निरन्तर ही विफल-प्रयास करता हुआ अनन्त-तीर्थंकर-परमात्माओं के विरुद्ध सबसे बड़ा अक्षम्य-अपराध करता है, जिसका फल प्रतिक्षण-मृत्यु-तुल्य प्रचण्ड एवं असह्य-आकुलतामय अनन्त-संसार होता है।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण-प्रश्न यह भी होता है कि पदार्थ सदैव द्रव्य-पर्यायमय होने के कारण पर्याय के बिना आत्मद्रव्य की अनुभूति अपूर्ण ही होगी। अतः पूर्ण-द्रव्य के अनुभव के अभाव में आनन्द के स्थान पर अकेली आकुलता का ही अनुभव होगा। तो यह प्रश्न भी वस्तु-व्यवस्था के सम्यग्ज्ञान के अभाव में विवेकसम्मत नहीं है क्योंकि द्रव्य-पर्याय पदार्थ के अभिन्न-अवयव होने से पस्पर-सापेक्षता का व्यवहार होते हुए भी परस्पर-विरुद्ध स्वभाववाले होने से निश्चय से निरपेक्ष ही होते हैं। इसीलिए, अनादिकाल से पर्याय मोह-राग-द्वेष से कलंकित होने पर भी आत्मद्रव्य शाश्वत एवं शुद्ध, वही का वही रहा है और पर्याय सम्यग्दर्शनादि से निर्मल हो जाने पर भी आत्मद्रव्य निर्मल-पर्याय से एक-अंश भी लिये बिना पर्याय से अत्यन्त-अप्रभावित, पूर्ण-निरपेक्ष, वही का वही, शुद्ध एवं ध्रुव रहा है। इसप्रकार पर्याय को श्रद्धा के विषय ध्रुव-द्रव्य में शामिल नहीं करने पर भी पर्यायमात्र से सदा ही अप्रभावित एवं निरपेक्ष, अनन्त-गुणात्मक,

अकेले आत्मद्रव्य की पूर्णता असंदिग्ध है। अतः आत्यन्तिक-निरपेक्षता एवं स्वाधीनता होने से प्रतिक्षण-पूर्ण, एकान्त-शुद्ध, अविनश्वर, अभेद एवं निष्क्रिय- चिन्मात्र-आत्मद्रव्य की प्रतीति एवं अनुभूति निर्विकल्प-समाधिरूप होने से असीम-आनन्दयमय ही होती है।

तथा इतने विवेचन से यह भी सुतरां-सिद्ध है कि आत्मानुभूति के विषय स्थायी-शुद्ध चिन्मयतत्त्व में अनन्त-धर्मों को नहीं मिलाने से अनन्त सापेक्ष-धर्मों की महिमा तनिक भी कम नहीं होती; क्योंकि अनन्त ही धर्म अपनी चित्-स्वरूप वस्तु में वस्तुत्व को उपजाते हुए अपनी अनन्त-गरिमा में सदैव ही अवस्थित रहते हैं।

इसप्रकार स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान से विश्व के अनेकान्त-स्वभाव को जानकर श्रुतज्ञान के परिशुद्ध-अवयव शुद्धनय का विषय सारे जगत् से भिन्न, मात्र ध्रुव एवं शुद्ध-चिदात्म-द्रव्य होने से उसी की प्रगाढ़, असीम-आनन्दमय, अविराम एवं मंगलमय-श्रद्धा तथा अनुभूति ही महामहिमामय अनेकान्त-सिद्धान्त के परिज्ञान की अपूर्व-उपलब्धि है एवं अन्तहीन-सुखमय मुक्त-दशा ही अनेकान्त के फल की चरमावस्था है।

अतएव साम्प्रदायिक-व्यामोह और अन्धविश्वास के अनुरोध से नहीं; किन्तु स्वयंसिद्ध अनैकान्तिक, अनादि-वस्तु-व्यवस्था की नैसर्गिक एवं अनाहत-वसुंधरा पर प्रतिष्ठित, अनेकान्त एवं स्याद्वाद जैसे विविध-महासिद्धान्तों से स्फुरायमान जैनदर्शन एवं उसके द्वारा प्रतिपादित **निज-शुद्धात्मतत्त्व-प्रवृत्ति केवल, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है दूसरा नहीं** और उसी का फल चिर-अनन्त-सौख्य-निकेतन 'मुक्ति' अर्थात् अविचल एवं अनुपम-विश्रामस्थली 'सिद्धावस्था' है।

❀❀❀

तत्त्वज्ञान : एक अनूठी जीवन-कला

सर्व विद्याओं में अध्यात्म-विद्या का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि अध्यात्म-विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी लोक-विद्या के पास आत्मा के स्थायी-सुख की गारंटी नहीं है। लोक-विद्या से प्राप्त समस्त-सन्निधियाँ आत्मा की परिधि से बाहर होने से आत्मा को उनका उपभोग होता ही नहीं है। अतः उनके पास आत्म-शान्ति का कोई विधान नहीं है। 'आत्म-शान्ति' अध्यात्म-विद्या का सर्वाधिक-सुरक्षित अधिकार है और उस अध्यात्म-विद्या की साधना का प्राम्भ तत्त्वज्ञान से होता है।

तत्त्वज्ञान सर्व-समस्याओं के समाधान की एक अद्‌भुत जीवन-कला है। वही जीवन का सर्वप्रथम-कर्म और सर्वप्रथम-धर्म है। उसके बिना जीवन असीम-वैभव के बीच भी दरिद्री और अशांत है और उसके प्रादुर्भाव में सर्व जागतिक-वैभव के बिना भी वह अकेला ही परमेश्वर है।

तत्त्वज्ञान वस्तु-दर्शन की एक अलौकिक-पद्धति है। वह लोक-कथित वस्तु-विधानों का विश्वासी नहीं है। पदार्थों में पारस्परिक-संबंधों की लोक-रूढ़-कहानी तत्त्वज्ञान को स्वीकार्य नहीं है। वह उस लोक-वार्ता को असत्य घोषित करता है, जहाँ दो पदार्थों में किंचित् भी संबंध घटित किया गया हो। वस्तु के साथ संयुक्त से दिखाई देने वाले दीर्घकाय-संयोगों तक सीमित न रहकर वह वस्तु की थाह लेता है।

Created by Universal Document Converter

उसका अनुसंधान अतिसूक्ष्म एवं गम्भीर है। **वह ऐसा गोताखोर है, जो सागर के घनत्वों को तब तक वेधता जाता है, जब तक उसे सीपी के संपुट में मोती उपलब्ध नहीं होता।**

तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण-विधान आत्मा के लिए है। वस्तुतः वह आत्मा की ही परिशुद्ध-बोधावस्था है। वह आत्मा के अनन्त-कष्टों के कारणों का निदान कर जीवन के शान्ति-निकेतन का उद्‌घाटन करता है। वह कहता है कि आत्मा सदा ही अविनाशी, अनन्त-शक्ति का निधान, परम-वीतराग, सबसे अलग-थलग, अनन्त-शक्ति-पुंज एक सम्पूर्ण चैतन्यसत्ता है। अनंत-महिमावंत वस्तु होने पर भी आत्मा को सदा से ही अपने गौरव की प्रतीति एवं बोध नहीं है, वरन् अनादि से ही वह 'देह' और 'देह के परिकर' अगणित जड़-स्कन्धों में अपनी प्राण-प्रतिष्ठा करता रहा है। वस्तु-व्यवस्था के आलोक में जब आत्मा की इस प्रवृत्ति की मीमांसा की जाती है, तो वह 'अपराधिनी' सिद्ध होती है; क्योंकि कण-कण की स्वाधीनता में व्यवस्थित विश्व को यह बहुत बड़ी चुनौती है, कुदरत की सत्ताओं को अपने तंत्र में लेकर निगलने का यह सर्व-महान्-अपराध है, अतः दण्डनीय है। किन्तु अपने इस प्रयास में आत्मा कभी भी कृत-कार्य नहीं होता, क्योंकि परसत्ताओं में उसके हस्तक्षेप की चरितार्थता कभी भी संभव नहीं है। अतः विवशता की कारा में तड़पता ही रहता है।

आत्मा की अनंत-कष्टावलियों के संबंध में तत्त्वज्ञान का यह त्रैकालिक-निदान है और तत्त्वज्ञान उनके सार्वभौमिक और सार्वकालिक-परिहार का पथ भी निर्दिष्ट करता है। वह कहता है कि सुख और शांति आत्मा का स्वरूप ही है। अतः किसी अन्य-पदार्थ एवं इन्द्रिय-भोगों को उसका समाधान मानकर संग्रह की चेष्टा करना मूर्खतापूर्ण-अपराध

है। इस विश्वास के कारण आत्मवृत्ति एक अनाचारी-पुरुष की तरह सदैव पर-सत्ताओं में परिभ्रमणशील रहती है। अतः अपनी चैतन्य-वाटिका की महिमा में अविराम-चिंतन द्वारा भ्रमणशील चैतन्य-वृत्तियों को आत्मस्थ करके स्वरूप-सौन्दर्य का संवेदन करना ही मुक्ति का एक मार्ग है, दूसरा नहीं।

तत्त्वदृष्टा को देह और उसके परिकर अगणित इन्द्रिय-विषयों का सान्निध्य भी रहता है। इनका कभी मनोवांछित-परिणमन भी होता है और कभी परम-प्रतिकूल भी; किन्तु परत्वबोध के बल से वह इन सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रह लेता है।

इसीप्रकार अज्ञान के निमित्त से आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म-बन्धनों के प्रति भी तत्त्वज्ञ अत्यन्त-मध्यस्थ हो जाता है; क्योंकि जैसे एक समझदार-अपराधी इस तथ्य को असंदिग्ध-भाव से जानता है कि उसके बंधन उसके पूर्व-कृत-अपराधों के प्रतिफल मात्र हैं; किन्तु अपराधों के कारण नहीं हैं। उसीप्रकार **तत्त्वज्ञान की यह अत्यन्त निःशंक और स्पष्ट-मान्यता है कि कर्म-बन्धनों का उसकी अशुद्धतम-संसारदशा और शुद्धतम-मोक्षदशा के प्रति किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है।**

'तत्त्वज्ञान' तत्त्वदर्शी की प्रयोगशाला है। वह आत्मा से संयुक्त विजातीय-परतों का एक्सरे की रश्मियों की तरह तब तक बेधन करता जाता है, जब तक उसे आनन्द-निधान चैतन्य के दर्शन नहीं होते। काया और कर्म की माया में तो उसके चरण अवरुद्ध होते ही नहीं है, क्योंकि इनमें तो उसे चैतन्य का आभास भी नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष एवं पुण्य-पाप जैसी आत्म-वृत्तियों में भी उसे चैतन्य का चिह्न नहीं मिलता, क्योंकि पर के प्रति आकर्षणशील होने से वे

अत्यन्त विकृत हैं, अतः उपादेय नहीं है। जैसे मलेरिया के मच्छर के संयोग से उत्पन्न मलेरिया-ज्वर शरीर की पर्याय होने पर भी शरीर का स्वरूप नहीं है; इसीप्रकार कर्म की उदय-दशा में उत्पन्न पुण्य-पाप की अवस्था आत्मा की पर्याय होने पर भी आत्मा का स्वरूप-सौंदर्य नहीं है। और जैसे जिसकी शक्ति-प्रबल है, उसे मलेरिया-मच्छर का योग ज्वर का निमित्त नहीं होता। इसीप्रकार जिसे अपनी चैतन्य-सत्ता का सुदृढ़-अवलम्ब है, उसे कर्मोदय 'विकार का निमित्त' नहीं होता, वरन् मात्र 'ज्ञेय-कोटि' में रहता है। **यह तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म-अनुसंधान है। उसका मन्तव्य है कि भिन्न-लक्षणवाले अनेक-भाव एकसाथ तो रह सकते हैं, पर कभी भी एक नहीं हो जाते।** दही के दीर्घ-समुदाय में दही के कण-कण के साथ मक्खन दही से भिन्न विद्यमान रहता है और वृदांवन की ग्वालिन को भी उसे दही से अलग निकालने से पूर्व ही यह भिन्नता उसकी पूरी की पूरी प्रतीति में प्रवर्तमान है। किन्तु जैसे एक बालक को दही और मक्खन के भेद का परिज्ञान नहीं होता, इसीप्रकार अज्ञानी को भी आत्मा और पुण्य-पाप के अंतर का बोध न होने से कभी पाप और कभी पुण्य की उपासना करता रहता है; किन्तु तत्त्ववेदी पाप-पुण्य के विकार-पुंज में भी विकार से अत्यन्त-भिन्न चैतन्य की अव्याहत-प्रतीति में गतिमान रहता है।

तत्त्वज्ञान की शोध यहीं विराम नहीं ले लेती, किन्तु पुण्य-पाप के आवरणों से आगे वह चैतन्य की खोज में और गहरी उतरती है और उसे चैतन्य-जगत् में ही क्षणिकाओं का एक अत्यन्त-सुन्दर कक्ष दिखाई देता है, जो अत्यन्त-सुन्दर होने पर भी उसे इसलिए रमणीय नहीं लगता कि सागर की तरंग के सदृश वह सदा-उपलब्ध रह सकने योग्य नहीं है, जबकि सागर तो सदा

उपलब्ध है। अत: क्षणिका का ममत्व भी एक मधुर-उन्माद है, जिसमें से निरंतर-विकलता का ही स्राव होता है।

इसके अनन्तर चैतन्य का कपाट खुलता है और तत्त्वज्ञान को उसके असंख्यप्रदेशी-सन्निवेश में अनन्त-शक्तियों का मंगल-लोक दिखाई देता है, जैसे चित्र-विचित्र पुष्पों की वाटिका खिली हो। किन्तु तत्त्वज्ञान यहाँ काफी-सूक्ष्म एवं गंभीर हो जाता है, क्योंकि चैतन्य की अनुभूति का यह अंतिम-व्यवधान है। वह देखता है कि अनन्त के दर्शन में भी अनुभूति की तरलता समाप्त नहीं होती, वरन् अनन्त-शक्ति की इस चक्रीयता में भी सुहाती-सुहाती-सी मंद-मंद विकलता ही निष्पन्न होती है, जिसका भेद सजग-प्रज्ञ को ही प्रतिभासित होता है। अत: इस शक्ति-सम्मोहन से भी अपराजित एवं अतृप्त-तत्त्वज्ञान अपने पुरुषार्थ के अंतिम-चरण में तूफानी-त्वरा से परिणमित होता है और उसे अत्यन्त-निस्तरंग अतुल-चैतन्य का वह दिव्य-लोक दिखाई देता है, जहाँ अनन्त ही शक्तियाँ एकत्व में एकीभूत हैं। यहाँ सर्व-तरलताओं को विसर्जित करके अनुभूति ऐसी समाहित हो जाती है कि द्वैत ही दिखाई नहीं देता। **शुद्ध-चैतन्य की यह आनन्द-वेदना ही आर्हत्-दर्शन का प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द है।**

तत्त्वज्ञान जीवन एवं जगत् की एक सर्वांग-मीमांसा है। जीवन की एक भी समस्या ऐसी नहीं, जिसका समाधान उसके पास न हो। यद्यपि अक्षय-चैतन्य ही उसका एकमात्र अहं है और वह निरंतर वहीं स्थापित करता है; फिर भी क्षय के प्रति गतिमान अपने पर्याय-दोषों का वह सजग-प्रहरी है। चारित्रिक-दौर्बल्य से प्रवर्तमान कोई दोष उसे उपेक्षित नहीं है। साथ ही वह निरन्तर दोषों से खिन्न एवं विह्वल भी नहीं है, तो सतत उनका चिन्तनशील भी नहीं है; क्योंकि सर्व-दोष निःशेष की

अद्भुत-कला उसे विदित है। वह जानता है कि **सतत 'दोष का विचार' व निरन्तर 'दोषों का भय' दोषमुक्ति का कोई उपाय नहीं है।** उसका अत्यन्त स्पष्ट-निर्णय है कि **आत्मा में सर्व-दोषों का जन्म एकमात्र स्वरूप-स्खलन से ही होता है। अतः स्वरूप-निष्ठा ही निर्दोष-निवारण का एकमात्र साधन है।**

पर्याय में व्याप्त दोष-समुदाय के साथ तत्त्वज्ञान को जीवन का एक वह पहलू भी दिखाई देता है, जहाँ निरन्तर योग-वियोग आवर्तित होते रहते हैं। पापोदय की विभीषिकायें हों अथवा पुण्योदय की इन्द्रधनुषी-छटायें, तत्त्वज्ञान इस रहस्य को बारीकी से जानता है कि ये सब उसकी सत्ता का स्पर्श ही नहीं करते। **अतः पापोदय की भीषण-हैरानी अथवा पुण्योदय का मधुर-उन्माद उसकी प्रज्ञा को कभी आच्छादित करते ही नहीं हैं।** जब अज्ञानी पाप एवं पुण्य का क्रीतदास होकर पदाघातों से कन्दुक की तरह दुर्दशाओं के चक्र से कभी मुक्त नहीं होता, तब चैतन्यजीवी-तत्त्वदृष्टा ऐसी हर परिस्थिति में संतुलित एवं समवस्थ रहता है।

तत्त्वज्ञान गर्वोन्मत्त-भोगमय-जीवन के मृण्मय-स्वरूप को खुली चुनौती है। चैतन्य के अस्तित्व में सन्देह कर जो मिट्टी के भोगों को ही जीवन का स्वरूप मानते हैं, देह एवं भोग की वियोग-चेतना से भट्टी में पड़े कीट की तरह जो निरन्तर अतिशय-वेदना से तड़पते हैं, उन्हें तत्त्वज्ञान का संदेश है कि समस्त भोग-संग्रह एवं संग्राहक-भाव ठीक ऐसी ही मिथ्या-कल्पनायें हैं, जैसे एक बालक मधुर-विष पीता हुआ हँस रहा हो।

समग्र संयोग-वियोग की संततियों के संबंध में तत्त्वज्ञान का सुनिश्चित-अभिमत है कि वे कभी भी आत्मा के पुरुषार्थ से

निष्पन्न नहीं हैं। वे सभी दैव-साध्य हैं, जिन्हें दृष्टि-शून्य अज्ञानी अपना संपादन मानता है, अतएव उसका संपूर्ण-जीवन संयोगों की सुरक्षा में नष्ट हो जाता है। जब तत्त्वज्ञान इनकी सीमा में अपनी व्यवस्था का भंयकर पाप नहीं करता, अतएव हल्का-फुल्का समरसी-जीवन जीता है।

तत्त्वज्ञान कषाय के शिखरों पर उल्का की तरह गिरता है। उसका उदय होते ही विभिन्न-पापाचारों के वे रूप जो युग के साथ बदलते रहते हैं, जिनसे व्यक्ति के चरम-पतन की समष्टि की व्यापक-चेतना भी अभिशप्त एवं आहत होती है, प्रयत्नों के बिना ही अनायास समाप्त हो जाते हैं। हत्यायें, लूटपाट, कालाबाजार एवं रिश्वत जैसे राष्ट्रीय-पाप एवं दहेज जैसा सामाजिक-कुष्ठ जो चिकित्सा के साथ बढ़ता ही जाता है, तत्त्वज्ञान के उदय से पूर्व ही निःशेष हो जाते हैं; क्योंकि **विशुद्ध मानस-भूमि में ही तत्त्वज्ञान का जन्म होता है। अतः पाप के असंख्य-रूपों का प्रहारक तत्त्वज्ञान ही लोकशांति का सुनिश्चित-विधाता है।**

इसप्रकार सचमुच 'तत्त्वज्ञान' चरम-पतन से चरम-उत्कर्ष तक ले जानेवाली जीवन की खुली-पुस्तक है।

❀ ❀ ❀

सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम)

‘दर्शन’ शब्द विविध मत-मतांतर, चाक्षुष-ज्ञान, सामान्य-अवलोकन तथा श्रद्धा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में दर्शन शब्द ‘श्रद्धा’ के अर्थ में ग्राह्य होता है। श्रद्धा, विश्वास, दृष्टि, प्रतीति, रुचि आदि शब्द ‘दर्शन’ के पर्यायान्तर हैं। ‘श्रद्धा’ आत्मा की एक शक्ति है। उसकी पर्याय का विषय ध्रुव-स्वतत्त्व है।

सम्यग्दर्शन– श्रद्धा–शक्ति की निर्मल, निर्विकार–दशा है। सही–दृष्टि विश्वार्थों का सही–अवलोकन करती है और उनमें से अपने उपादेय–तत्त्व को चुनकर उसी का आश्रय करती है। इसके विपरीत गलत–दृष्टि अथवा मिथ्या–दृष्टि स्व से सर्वथा–भिन्न विश्व के पदार्थों के साथ एकत्व अथवा कारण–कार्य भाव की स्थापना करती है। सम्यग्दर्शन अथवा सही–दृष्टि का अर्थ यह नहीं है कि अपने से भिन्न शरीरादि पर–पदार्थों को ‘पर’ कह दिया जाये, ‘चेतन’ को चेतन अथवा ‘जड़’ को जड़ कह दिया जाये, और अपने अबद्ध–अस्पृष्ट, अक्षय–स्वभाव का चिन्तन कर लिया जाये, वरन् स्व–पर के बीच जो मौलिक–भेद विद्यमान है, उसकी सर्वांगीण (षट्कारकीय) स्वीकृतिपूर्वक स्वतत्त्व की निर्विकल्प–अनुभूति में सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है।

ज्ञान में हेय-उपादेय-प्रवृत्ति

यद्यपि सच्ची-श्रद्धा से पूर्व प्रवर्तित होनेवाला ज्ञान भी स्व-पर के भिन्नत्व का प्रतिपादन करता है, किन्तु देहादि से भिन्न उपादेय-स्वरूप निज शुद्ध-जीवत्व यदि अनुभूति में न आये, तो ज्ञान के द्वारा भिन्नत्व-प्रतिपादन का कोई मूल्य नहीं है। **इसीलिए दृष्टि सम्यक् होने पर ही ज्ञान में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और दृष्टि के सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान उपादेय-तत्त्व का 'विज्ञापन' तो करता है; किन्तु ज्ञान में उस शुद्धत्व की प्रसिद्धि नहीं होने पाती। अतः अनुभूति-शून्य उस ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।** फिर वह ज्ञान लोकदृष्टि से विस्तृत होने के कारण भले ही आदरणीय हो, किन्तु प्रयोजनभूत शुद्ध-स्वतत्व और रागादि-विकार तथा देहादि जड़-तत्त्वों में ग्रन्थिभेद करने में असमर्थ होने के कारण 'पर' को ही 'स्वस्थान' में सेवन करता हुआ अपने योग्य-फल अर्थात् निराकुल-सुख का उत्पादन नहीं करता। अतएव श्रद्धा की सच्चाई के साथ ही ज्ञान में सच्चाई उत्पन्न होती है।

श्रद्धा और ज्ञान-शक्ति के कार्यों की उनके स्व-स्वलक्षणों से भिन्न पहिचान न होने के कारण ज्ञान के "मैं शुद्ध और निर्विकार हूँ"-इत्यादि विकल्पों को ही प्रायः सम्यग्दर्शन मानने की भूल की जाती है; किन्तु **"मैं शुद्ध ज्ञान-तत्त्व हूँ" इस विकल्प की पुनरावृत्ति को वास्तव में 'सम्यग्दर्शन' कहते ही नहीं है। वरन् शुद्ध ज्ञायक-तत्त्व की अखंड-धारावाहिक निर्विकल्प-प्रतीति को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। विकल्प में ज्ञायक-तत्त्व का विचार तो है; किन्तु तत्त्व का स्पर्श नहीं है।** यदि "मैं शुद्ध ज्ञायक-तत्त्व हूँ"-ज्ञान के इस विकल्प को 'सम्यग्दर्शन' मान लिया जाये, तो ज्ञान सदा इस विकल्प में तो

रहता नहीं है, और तब तो जिससमय ज्ञान आत्मातिरिक्त अन्य-पदार्थों को विषय करेगा, उससमय सम्यग्दर्शन का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान जिससमय पर-तत्त्व को विषय कर रहा हो, उससमय भी श्रद्धा का सद्भाव रहता है। जैसे किसी व्यक्ति को निद्रा में अपने नाम तथा जाति-ज्ञान के विषय न रहने पर भी उनकी अखंड-प्रतीति बनी ही रहती है। यह प्रतीति जागृत-दशा में भी अक्षुण्ण रहती है, जागृत-दशा में विभिन्न-प्रतीतियों की अखंड-धारा साथ ही प्रवाहित होती रहती है। यह अखंड-प्रतीति ज्ञान की पर्याय तो नहीं है, अतः यह ज्ञानातिरिक्त किसी अन्य-शक्ति की ही पर्याय है और उसे ही 'श्रद्धा' कहते हैं।

व्यवहार-श्रद्धा अथवा 'व्यवहार-सम्यग्दर्शन'

ज्ञान की भाँति सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धारूप-विकल्प भी 'सम्यग्दर्शन' नहीं है, किन्तु वह चारित्र की शुभरागरूप-पर्याय है। देव-शास्त्र-गुरु को विषय करनेवाला चारित्र 'विकारी' होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को विषय करने का अर्थ ही कारण-कार्यभावपूर्वक उनकी उपादेयता को स्वीकार करना है। सच्ची-श्रद्धा या सम्यग्दर्शन शुद्ध-त्रैकालिक-पदार्थ अर्थात् पर-निरपेक्ष स्व-जीवतत्त्व को ही विषय करती है; अन्यथा यह मिथ्या होती है।

शास्त्रों में जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को 'सम्यग्दर्शन' कहा है, वह 'निमित्त की अपेक्षा' से है। सम्यग्दर्शन सात-तत्त्व की समझपूर्वक ही होता है और तत्त्व की समझ में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं, अन्य नहीं। जैसे संस्कृत भाषा सीखने के अभिलाषी-विद्यार्थी को आंग्लभाषा-भाषी अध्यापक निमित्त नहीं होता। उसीप्रकार तत्त्व की सच्ची समझ में मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु निमित्त नहीं होते।

सम्यग्दर्शन जब भी होता है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की एकान्त-श्रद्धा अर्थात् भक्तिपूर्वक ही होता है। अतएव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होने वाले शुभ-विकल्पों को भी 'व्यवहार-सम्यग्दर्शन' की संज्ञा दी जाती है। **वास्तव में वे शुभ-विकल्प सम्यग्दर्शन नहीं हैं।**

इसीप्रकार आगम में जीवादि सात-तत्त्वों की श्रद्धा को भी 'सम्यग्दर्शन' कहा। यह कथन भी निमित्त की ओर से है, वास्तविक नहीं; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन का निमित्त होने के कारण ऐसा उपचार किया गया है। निमित्त भी कब बनता है ? जब उनको (सात ही तत्त्वों को) 'हेय' मानकर और निरपेक्ष शुद्ध-चैतन्य को 'उपादेय' माना, सात-तत्त्वों को एक ओर रखा, अदृश्य कर दिया, उनके भी विकल्प तोड़कर उनकी अनेकरूपता या एकरूपता में भी हेयत्व-दृष्टि व उनमें 'मैं यह हूँ' ऐसे अहंमय मिथ्यादर्शन को विसर्जन करता हुआ, शुद्ध-चैतन्य की ओर एक बार झाँका, तो उसी क्षण सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) का प्रादुर्भाव होता है। तब सात-तत्त्व को 'निमित्त' कहा जाता है।

सत्य-पुरुषार्थ द्वारा सात-तत्त्वों को निमित्त बनाकर, फिर उसकी निमित्तता छोड़कर, उनको हेय जानकर, ये 'मैं नहीं' जानकर, 'ये मेरे ज्ञेय भी नहीं', इनकी ओर से श्रद्धा व ज्ञान को खींचकर, त्रिकाली-शुद्ध-चैतन्य पर स्थापित किया, इसी प्रथम-अनुभूति में विलक्षण-आनंद का मधुरिम-स्वाद आता है, तब सात-तत्त्व सम्यग्दर्शन के निमित्त कहे जाते हैं।

जैसे रसोई होती है, वह किसकी बनी होती है ? जहाँ हम खाना बनाते हैं, पूछा जाता है, "दूध कहाँ रखा है ?" तो उत्तर मिला "रसोई में", लेकिन क्या वह वास्तविक रसोई है ? रसोई तो जिसमें रस भरा

हो, जिसके सेवन से क्षुधा–निवृत्ति होकर तृप्ति होती है, वह असली रसोई है। पाषाण की रसोई को 'रसोई' कहने पर भी उसे सत्य नहीं मान लेना। यह रसोई नहीं हो, तो भोजन नहीं बनता, लेकिन इससे भी भोजन नहीं बनता। यह तो निमित्तमात्र है, निमित्त भी तब कहेंगे, जब हम पाषाणमयी–रसोई का विकल्प तोड़कर भोजन की योग्य–सामग्री द्वारा भोजन बनाने का भिन्न पुरुषार्थ करेंगे, तो रसोई बनेगी और हमारे प्रयोजन की सिद्धि होगी। यदि पाषाण–निर्मित रसोई को 'रसोई' मानकर बैठ जायेंगे, तो भूखे ही रहेंगे, कष्ट ही बढ़ेगा। अतः सात–तत्त्व की श्रद्धा को 'व्यवहार–सम्यग्दर्शन' कहा गया, वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं। सम्यग्दर्शन तो शुद्धात्मतत्त्व की निर्विकल्प–प्रतीति व अनुभूतिरूप आनन्दप्रदायी ही होता है और इसीलिए वहाँ सम्यग्दर्शन के साथ 'व्यवहार' शब्द की योजना की गई है। व्यवहार–सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय ही नहीं है, फिर उसे सम्यग्दर्शन कहा भी कैसे जा सकता है? करणलब्धि के उपरान्त जब स्वानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, तब तो देव–शास्त्र–गुरु व सात–तत्त्व का विकल्प भी नहीं रहता। पश्चात् सतत–स्वानुभूति में नहीं रहने पर भी 'सम्यग्दर्शन' तो विद्यमान रहता है।

श्रद्धागुण की कार्य–प्रणाली

श्रद्धागुण की विशेषता अथवा उसका अर्थ यह है कि वह जिसको विषय करता है, उसे ही परिपूर्ण 'स्व' अथवा 'आत्मा' मानता है और उसी में संपूर्णता से 'आपा' (अहंपना) की स्थापना करता है। आत्मा वास्तव में कैसा है?—इसकी प्रतीति श्रद्धा का ही कार्य है। यह निर्णय यदि भ्रान्तिवश गलत हो, तो श्रद्धा की उस पर्याय को 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं और सही हो तो श्रद्धा की उस पर्याय को 'सम्यग्दर्शन' कहते

हैं। "**मैं वर्तमान में कैसा हूँ" - इससे सम्यग्दर्शन को कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु "वास्तव में कैसा हूँ"–यह उसका विषय है।"** फलस्वरूप जीवत्व से अतिरिक्त अजीवादि–तत्त्व तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सभी विकारी और निर्विकारी–पर्यायों को सम्यग्दर्शन विषय नहीं करता। **सम्यग्दर्शन जिसको विषय करता है, उसे ही उपादेय मानता है और उसी का आश्रय करता है।** अत: अजीवादि–परतत्त्व तथा रागादि–विकारों में तो सम्यग्दर्शन की उपादेयता होती ही नहीं, वरन् निर्विकारी–पर्याय में भी उसकी उपादेयता नहीं है, क्योंकि **निर्विकारी–पर्याय भी क्षणिक होने के कारण दृष्टि को वहाँ विराम नहीं मिलता।**

लोक में भी हम देखते हैं कि एक 80 वर्ष की वृद्धा सूत कातती है, तो दृष्टि पोनी पर रहती है, तब सूत बिना किसी रुकावट के निकलता रहता है, और सूत की ओर दृष्टि जाते ही धागा टूट जाता है–यही प्रक्रिया यहाँ मोक्षमार्ग में है। पर्याय को आश्रय देकर उसकी ओर दृष्टि करते ही एक क्षण में पर्याय खिसक जाती है। फलस्वरूप क्लेश की उत्पत्ति होगी। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन–पर्याय निरपेक्ष, शुद्ध, अनन्त–शक्तियों का पिंड ध्रुव–जीवत्व को विषय करती है। अत: आश्रय एकरूप–ध्रुव होने के कारण पर्याय का आविर्भाव एवं तिरोभाव उसे क्लेश उत्पन्न नहीं करता। पर्याय की उन्मग्नता एवं निमग्नता में भी 'मैं एकरूप ध्रुव शुद्ध–तत्त्व हूँ' ऐसी प्रतीति अक्षुण्ण रहती है। एक ओर त्रैकालिक–ध्रुवस्वभाव है, एक ओर क्षणिक–पर्यायों का वर्तमान है–दोनों में उपादेयता का श्रेय एक को ही मिल सकता है। ध्रुवस्वभाव के इस विश्वास के बल पर ही ध्रुवस्वभाव की सम्पूर्ण–शुद्धता के आदर्श से क्षणिक विकारी–पर्यायों का परिहार करने का सम्यक्–पुरुषार्थ जागृत होता है।

ध्रुवदृष्टि का यह नियम केवल आध्यात्मिक-विकास का ही मूल हो ऐसा नहीं है, वरन् लौकिक-उत्कर्ष तथा लोक-जागरण भी इसी नियम का अनुशीलन करते हैं। भारत की स्वाधीनता इसका ज्वलंत-प्रमाण है। सदियों से दासता की श्रृंखलाओं में जकड़े भारत ने जब यह अनुभव किया "मैं स्वतन्त्र हूँ और स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध-अधिकार है", तभी दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ने के लिए उसका सुप्त-पुरुषार्थ जागा। यदि दासता को ही स्वीकार करके जन्मसिद्ध-स्वाधीनता विस्मृत कर दी गई होती और परतन्त्रता के बीच स्वाधीनता का विश्वास ही नहीं जागता, तो स्वाधीनता कैसे हस्तगत होती? अतः स्वाधीनता का विश्वास भारत की स्वाधीनता की उपलब्धि का प्रथम-चरण था। स्वाधीनता के विश्वासपूर्वक द्वितीय-चरण के रूप में स्वाधीनता-संग्राम का सूत्रपात हुआ। **इसीप्रकार सही-विश्वास या सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक-स्वतन्त्रता का भी प्रथम-चरण है। वैकारिक-पराधीनता में भी सम्यग्दर्शन अपने निर्विकारी-स्वरूप का जयघोष करता रहता है।** फलस्वरूप पराधीनता के सर्वनाश के लिए द्वितीय-चरण के रूप में सम्यक्-चारित्र का उदय होता है।

दृष्टि का विषय

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुद्ध ध्रुव-जीवतत्त्व अनन्त-शक्तियों का अखंड-पिण्ड है और पर्याय से निरपेक्ष है। क्षणिक होने के कारण केवलज्ञानादि शुद्ध-पर्यायें भी इसकी अपेक्षा विभाव अथवा अजीव कही जाती है। सम्यग्दर्शन का जीव यदि शुद्ध ध्रुव-परम-पारिणामिक-तत्त्व-स्वरूप आत्मतत्त्व है, तो फिर ध्रुव-जीवतत्त्व के स्वभाव से मेल न खानेवाली सभी विकारी-निर्विकारी क्षणिक-पर्यायें उसके लिए 'अजीव' सिद्ध हो गईं। केवलज्ञानादि शुद्धपर्यायों को भी

उसी ध्रुवत्व का अवलम्बन है। **ध्रुवतत्त्व ही सभी शुद्ध-पर्यायों का एकमात्र उपास्य-देवता है। क्षणिक-पर्याय का अवलम्बन तो उस धसकनेवाली-धारा के समान है, जिस पर बैठनेवाला उस धरा के साथ स्वयं धसक जाता है।**

जैसे मोदक के कोष में से मोदक निकालकर खाने के उपरांत यदि मोदक के कोष को विस्मृत कर दे और केवल प्रगटरूप मोदक पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर ले, तो प्रगटरूप-मोदक की समाप्ति पर दूसरा-मोदक कहाँ से आयेगा? कोष पर तो दृष्टि है नहीं और प्रगटरूप मोदक समाप्त ही हो गया है, अतः अब तो विकलता की संतति ही अभिवृद्धि होगी। इसीप्रकार आत्मा के ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि न होकर जिसकी वर्तमान मनुष्यादि-पर्यायों पर ही दृष्टि है, उन्हीं को जो आत्मा स्वीकार करता है, उसे उस पर्याय के अवसान में तीव्र-क्लेश होगा। ज्ञानी को वर्तमान-पर्याय के अवसान के समय भी मेरा कुछ नहीं जा रहा है, मैं तो नित्य-शुद्ध अक्षय-तत्त्व हूँ—ऐसी प्रतीति का अनूठा-बल विद्यमान है। सम्यग्दर्शन के विषय के संबंध में एक शंका यह की जाती है कि उसका विषय निरपेक्ष, निर्भेद, निर्विशेष, शुद्ध-ज्ञायक, पर्याय-निरपेक्ष, अखंड-जीवत्व है; किन्तु जीव-पदार्थ इतना ही तो नहीं है, वह तो एक ही समय में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। तब पदार्थ के केवल द्रव्य-पक्ष को स्वीकार करनेवाली दृष्टि ऐकांतिक हुई, और पर्याय की उपेक्षा कर देने पर जीव-पदार्थ अखंड भी कैसे रहा?

यद्यपि द्रव्य-गुण-पर्यायमयता प्रत्येक पदार्थ की अखंडता है और कोई पदार्थ कभी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय से रिक्त उपलब्ध नहीं होता; किन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अखंडता सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। यह प्रमाण का विषय है। **अनन्त-गुणात्मक अन्वय-स्वरूप द्रव्य**

की जो शाश्वत-एकरूपता है, वही सम्यग्दर्शन-विषयक अखंडता है। पर्याय के व्यतिरेकों की अपेक्षा तो द्रव्य में नानात्व का प्रतिभास होता है और वह नानात्व ही खंडभाव है, जो सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। **पर्याय के व्यतिरेकों में द्रव्य वैसा का वैसा भले ही दृष्टिगोचर हो, किन्तु वही का वही कभी उपलब्ध नहीं होता।** अतः पर्याय की आश्रयकारिणी-पर्याय को कभी विराम नहीं मिलता, क्योंकि वह भी पर्याय के साथ चक्कर खाती रहती है। **द्रव्य की आश्रयकारिणी-पर्याय का अनन्त-विराम है। स्वयं सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं है।**

सच्चाई तो यह है कि पूरे जीव-पदार्थ में से सम्यग्दर्शन उतनी ही चीज लेता है, जितनी उसके प्रयोजन की है और वह प्रयोजनभूत-चीज अखंड-ज्ञायक जीवत्व ही है। जैसे आरोग्य मानव-स्वभाव होते हुए भी एक व्यक्ति रुग्ण हो जाता है। यद्यपि आरोग्य और रुग्णत्व दोनों ही एक ही व्यक्ति के धर्म होने पर भी स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए आरोग्य-स्वभाव ही उपादेय तथा श्रद्धेय होता है, रुग्णता तो जानने-मात्र के प्रयोजन की होती है, उससे अन्य किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जबकि आरोग्य-स्वभाव तो प्रयोजनभूत-मूलतत्त्व है। वह तो श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के योग्य है। रुग्णता तो श्रद्धा और आचरण का विषय बनने योग्य नहीं है। यदि वह श्रद्धेय हो तो उसका अभाव कैसे किया जाये ? क्योंकि श्रद्धेय का अर्थ ही उपादेय होता है। **इसी प्रकार आत्मा की सभी विकारी, निर्विकारी-पर्यायें समानरूप से क्षणिक तथा आश्रय-दातृत्व से शून्य होने के कारण मात्र 'ज्ञेय' ही होती है, 'उपादेय' नहीं होती, अतः वे सम्यग्दर्शन का विषय नहीं होतीं, मिथ्यादर्शन का विषय होती हैं।**

त्रैकालिक शुद्ध-अखंड-जीवत्व को विषय करने के कारण सम्यक्-श्रद्धा को एकान्त का दोष आता हो, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि प्रथम तो पूरे जीव-पदार्थ में से जितना अपेक्षित होता है, सम्यग्दर्शन ले लेता है अर्थात् अहं करता है और शेष-अंश-पदार्थ में विद्यमान रहते हुए भी वह उसे छोड़ देता है। और **क्षणिकता से जब उसे प्रयोजन ही नहीं है, तो वह उसे लेकर भी क्या करे? ज्ञान में ध्रुव-द्रव्य के अहं के साथ पर्याय की विद्यमानता स्वीकृत होने के कारण ज्ञान में अनेकांत एवं श्रद्धा में सम्यक्-एकांत निर्विवाद-विद्यमान रहता है।**

वास्तव में **एकान्त-अनेकान्त 'श्रद्धा' के धर्म नहीं है, वरन् 'ज्ञान' के धर्म हैं। अनेकान्तात्मक-वस्तु में तो द्रव्य-पर्याय, ध्रुव-क्षणिक, निर्विकार-विकार आदि परस्पर-विरुद्ध अनन्त-धर्म एक ही साथ पड़े हैं।** किन्तु सबको समानरूप से उपादेय मानकर आश्रय करना श्रद्धा के लिए सम्भव ही नहीं है, क्योंकि दोनों पहलू परस्पर-विरुद्ध हैं। निर्विकार-नित्य तथा सविकार-अनित्य अथवा द्रव्य और पर्याय को समानरूप से उपादेय मानकर एक ही समय में उनका आश्रय (अहं) किया जा सके—ऐसा नहीं बनता। दो पक्षों में से एक समय में एक का ही आलंबन सम्भव है, अतः सम्यग्दृष्टि नित्य-शुद्धद्रव्य का ही आलंबन करता है, क्षणिक-पर्याय का नहीं। अनेकान्त-स्वभावी वस्तु के दोनों पक्षों को एक ही साथ हेय-उपादेयरूप से विषय करना ज्ञान का कार्य है और उस ज्ञान को ही प्रमाण अथवा 'अनेकान्त' कहते हैं। **श्रद्धा यदि दोनों पक्षों को समानरूप में विषय करे अर्थात् उपादेय माने, तो वह 'मिथ्या' है और ज्ञान यदि दोनों पक्षों को एकसमय में समानरूप से विषय न करे अथवा सापेक्षता**

से एक ही पक्ष को एकसमय में विषय न करे, तो वह ज्ञान 'मिथ्या' है।

अनेकान्त-दृष्टि अर्थात् प्रमाण-दृष्टि में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक पदार्थ का अखंड-भाव से स्वीकार हो चुकने पर ही उसके किसी एक धर्म को विषय करनेवाले ज्ञान की 'सम्यक्' संज्ञा (नय) होती है। किन्तु अनेकान्त-दृष्टि में पदार्थ को सम्पूर्णता से द्रव्य-पर्यायस्वरूप जान लेने पर भी सम्यग्दर्शन अनेकान्त-ज्ञान के विषयभूत इस सम्पूर्ण-पदार्थ को ही उपादेय नहीं मानता, वरन् उसके नित्य शुद्ध-पक्ष को ही अंगीकार करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन आत्मा के जिस स्वभाव को विषय करता है, ज्ञान-चारित्रादि अनन्त-शक्तियाँ भी उसी स्वभाव का अनुशीलन करती हैं और अन्त में मुक्त-दशा में भी उसी स्वभाव का अहं, संवेदन एंव लीनतापूर्वक पूर्ण शुद्धता अभिव्यक्त होती है।

❀ ❀ ❀

सम्यग्दर्शन का विषय (द्वितीय)

(पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं उनका जीवन-दर्शन)

'अहंमय ध्रुव' श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में 'पूर्ण' में 'पूर्ण के अहं' के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है।

और तो और सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान् एवं असाधारण -व्यक्तित्व हैं। उनके बहुमुखी-व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर स्वयं-बुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसंधान किया एवं अपने प्रचण्ड-पौरुष से जीवन में उसे आत्मसात् किया। इस जीवन में शुद्ध-अन्तस्तत्त्व की देशना के लिए उन्हें किन्हीं गुरु का योग नहीं मिला, फिर भी उन्होंने तत्त्व को पा लिया; क्योंकि सद्गुरु की देशना को वे इस जीवन से पूर्व ही उपलब्ध कर चुके थे। पूर्व-देशना से प्राप्त उनका तत्त्वज्ञान इतना परिपूर्ण एवं परिमार्जित था कि वह इस भवान्तर तक भी उनके साथ रहा और उसी

ने उन्हें आलोक दिया। उन्होंने तो आगम की नैसर्गिक पद्धति में तत्त्व को उपलब्ध कर ही लिया, किन्तु मेरी कल्पना यह है कि इस युग में अन्तस्तत्त्व के बोध के लिए यदि वे किसी को अपना गुरु स्वीकार कर भी लेते, तो भी उन्हें तत्त्व की उपलब्धि सम्भव नहीं थी; **उस समय यह तत्त्व प्रायः अभावग्रस्त था।** यहाँ तक कि जीवन के सहज-क्रम में जो दीक्षा-गुरु उन्हें मिले थे, तत्त्व की शोध एवं उपलब्धि के लिए उनका मोह भी उन्हें छोड़ना पड़ा।

सौराष्ट्र के 'उमराला' ग्राम में जन्मे 'उजम्बा' एवं 'मोती' के ये लाल बाल्यकाल से ही विरक्त-चित्त थे और एकमात्र ज्ञान एवं वैराग्य के प्रकरण ही उन्हें पंसद थे। अपनी उदात्त, लोकोत्तर-आकांक्षाओं के समक्ष उन्हें कामिनी का माधुर्य परास्त नहीं कर सका; फलस्वरूप किसी भी मूल्य पर वे उसे जीवन में स्वीकार करने को सहमत नहीं हुए। अन्तर में भोगों से विरक्ति बढ़ती ही गई और अन्त में 24 वर्ष की भरी जवानी में वे 'स्थानकवासी-सम्प्रदाय' में साधु-पद पर दीक्षित हो गये। दीक्षा के नियमानुसार घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति सब छूट ही गये और दीक्षा के आचार का भी दृढ़ता से पालन होने लगा; किन्तु 'शान्ति की हूक' शान्त नहीं हुई, शोध की प्रेरणा प्रशान्त नहीं हुई और अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा। अतः अधिक समय तक वह प्रतिबन्ध सह्य न हो सका और एक दिन (वि.स. 1991) मस्त-मतंग की तरह उसे भी छोड़कर चल दिये एवं तत्त्व की मस्ती में घूमते श्री कानजीस्वामी का स्वर्णपुरी (सोनगढ़) सहज ही विश्राम-स्थल बन गया।

श्री कानजीस्वामी के जीवन का यह स्थल सर्वाधिक-मार्मिक, स्तुत्य, लोक-मांगल्य-विधायक एवं वरेण्य है, जहाँ उन्होंने जीवन के सबसे भयंकर-शत्रु 'मताग्रह' को खुली चुनौती दी और अन्त में

विजयी हुए। जीवन में गृह–कुटुम्ब, कंचन–कामिनी, पद एवं प्रतिष्ठा सभी कुछ तो छूट जाते हैं; किन्तु महान् से महान् ऋषि, मुनि एवं मनीषियों का बौद्धिक–धरातल इस मताग्रह के प्रचंड–पाश से मुक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप दृष्टि निष्पक्ष नहीं हो पाती और असंख्य–प्रयत्नों में भी सत्य आत्मसात् नहीं होता।

श्री कानजीस्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक–क्रान्ति–दृष्टा–पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन–लोक–जीवन की श्वासें रूढ़ि, अन्धविश्वास, पाखंड एवं कोरे–कर्मकांड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। **इन महापुरुष ने शुद्ध–जिनागम का मन्थन कर इन जीवन–विरोधी–तत्त्वों को 'अधर्म' घोषित किया और इस निकृष्ट–युग में शुद्ध–आत्मधर्म की प्राण–प्रतिष्ठा की।** उन्होंने जन–जीवन को एक सूत्र दिया "**स्वावलंबन अर्थात् निज–शुद्ध–चैतन्यसत्ता का अवलंबन ही धर्म है। परावलम्बन में धर्म अथवा शान्ति घोषित करनेवाली सभी पद्धतियाँ 'अधर्म' हैं; फलस्वरूप विश्वसनीय नहीं हैं।**"

जिस समय भारत–वसुधा पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का अवतरण हुआ, **उस समय भी आध्यात्मिक–चिंतन का रिवाज तो था; किन्तु उस चिंतन में अध्यात्म नहीं था।** आध्यात्मिक–चिंतन का यह स्वरूप हो चला था कि आत्मा को कहा तो शुद्ध जाता था; किन्तु वास्तव में माना अशुद्ध जाता था अथवा यदि शुद्ध माना भी जाता था, तो आगम–भाषा के दासत्व के कारण शुद्ध–निश्चयनय से शुद्ध माना जाता था और व्यवहारनय से 'अशुद्ध'। इसतरह श्रद्धा के लिए कोई धरती ही नहीं रह गयी थी और दो नयों की चक्की में धान की तरह पिसकर

आत्मा की मिट्टी-पलीत हो रही थी। बड़े से बड़े विचारक, महान्-प्रतिभायें, त्याग और वैराग्य के आदर्श 'नय की इस चक्रीयता' में इसतरह मुग्ध थे, कि न तो उसमें से निकलने का उनका मन था और न सामने कोई रास्ता। सौराष्ट्र के इस संत ने जंगलों के निर्जनों में 'समयसार' एवं 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसे परमागमों एवं ग्रन्थों का गम्भीर-अवगाहन कर इस आध्यात्मिक-समस्या का सरलतम-समाधान प्रस्तुत किया।

वस्तुतत्त्व-दर्शन

उन्होंने कहा—"**विश्व के सभी जड़-चेतन पदार्थ स्वयं-सिद्ध अनंत-शक्तिमय एवं पूर्ण हैं। वे एक-दूसरे से अत्यंत-भिन्न अपनी स्वरूप-सीमा में ही रहते हैं और एक-दूसरे का स्पर्श तक नहीं करते।** अतः सभी जड़-चेतन सत्तायें नितान्त-शुद्ध हैं। आत्मा भी एक ऐसी ही स्वयंसिद्ध, निरपेक्ष, शुद्ध चैतन्य-सत्ता है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि उसकी असाधारण-शक्तियाँ अथवा स्वभाव हैं, जो शाश्वत उसी में रहते हैं। वह अपने में परिपूर्ण एवं अन्य से अत्यन्त-भिन्न है। अतः वह एक शुद्ध एवं स्वतन्त्र-सत् है; क्योंकि जो सत् अथवा सत्ता है, वह स्वतन्त्र, पूर्ण एवं पवित्र होना ही चाहिए; अन्यथा वह सत् कैसा? जो जड़ है, वह पूरा जड़ हो एवं चेतन पूरा चेतन। अपूर्ण-जड़ अथवा अपूर्ण-चेतन का स्वरूप भी क्या हो? अतः भिनन्त्व, पूर्णत्व एवं एकत्व 'सत्' का स्वरूप ही है।

विश्व के दर्शनों में जैनदर्शन का यह एक मौलिक-अनुसंधान है। अपने अनुसंधान में उसने कहा - "वस्तु का एकत्व ही उसका परम-सौन्दर्य है। संबंध की वार्ता विसंवाद है।"

विश्व के प्रत्येक पदार्थ के दो अवयव हैं—एक उसकी अनन्त-

शक्तिमय ध्रुव–सत्ता, जिसे 'द्रव्य' कहते हैं और दूसरी उसकी प्रतिसमय बदलनेवाली पर्याय। आत्म–पदार्थ के भी इसीप्रकार दो अवयव हैं– एक उसकी श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त–शक्तिमय, ध्रुव, शुद्ध एवं पूर्ण–सत्ता एवं दूसरी उसी श्रद्धा, ज्ञान आदि पर्याय (माानने–जानने आदि रूप पर्याय)। आत्म–सत्ता का ऐसा परिशुद्ध–स्वरूप स्थापित हो जाने पर आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान (जानने–माननेवाली पर्याय) वृत्ति का केवल एक ही काम रहा कि 'वह आत्मा को पूर्ण एवं शुद्ध ही माने, ऐसा ही जाने एवं ऐसा ही अनुभव करे एवं अन्य सभी जड़–चेतन पदार्थों को अपने से भिन्न जाने।' किन्तु आत्मा की इस वृत्ति में सदा से ही यह अज्ञान एवं अविश्वास रहा कि उसने अपने को 'शुद्ध' एवं 'पूर्ण' माना ही नहीं, अतएव अपनी पड़ौसी देहादि–सत्ताओं में ही मुग्ध रही। उन्हीं में अहं किया एवं उन्हीं में लीनता।

पर–सत्ताओं में 'अहं' की यह वृत्ति महान्–व्यभिचारिणी है, क्योंकि उसमें विश्व की अनन्त–सत्ताओं को अपने अधिकार में लेकर उनमें रमण करने की चेष्टा है। अतः विश्व की स्वतन्त्र एवं सुन्दर–व्यवस्था को समाप्त कर देने की यह हरकत विश्व का सर्व–महान अपराध हुआ और उसकी दंड–व्यवस्था में 'निगोद' फलित हुआ।

जीव के अनादि–अज्ञान का कारण व निवारण

परिशुद्ध कांचन–तत्त्व होने पर भी आत्मा की वृत्ति में इतना लम्बा एवं ऐसा भयंकर–अज्ञान क्यों रहा? उसका उत्तर आत्मा से दूर कहीं अन्यत्र तलाश करना एक दार्शनिक–अपराध होगा, क्योंकि भिन्न–सत्ता की वस्तुओं में कारण–कार्य–भाव कभी भी घटित नहीं होता। अतः इसका उत्तर स्वयं आत्मा में ही निहित है और वह यह है कि आत्मा ने सदा से स्वतः ही यह अज्ञान–परिणाम किया और वह स्वयं ही अज्ञानी रहा।

जैसे—एक लौकिक-प्रश्न है कि महान्-बलशाली, पराक्रमी एवं अतुल-वैभव-सम्पन्न एक सम्राट की महारानी दरिद्री-महावत पर मुग्ध क्यों हो गई ? उसका कारण यदि हम महावत को मानें, तो सम्राट् तो उससे कहीं बहुत अधिक है फिर महावत का मोह कैसा ? अतः पूर्ण-अनुसंधान के बाद हमारा अन्तिम-समाधान यही होगा कि यह तो महारानी की अपनी स्वाधीन-परिणति ही है। उसके मनोविकार का कारण भी अत्यन्त पर-निरपेक्ष ही है। कथन में कर्मोदय आदि की सापेक्षता आ जाती है, किन्तु भाव तो निरपेक्ष ही रहता है; क्योंकि यदि कोई दूसरा आत्मा को अज्ञानी बनावे, तो कोई ज्ञानी भी बना सकेगा और पुनः कोई अज्ञानी बना देगा। इसप्रकार आत्मा किसी के हाथ की कठपुतली मात्र रह जायेगा और उसके बन्ध-मोक्ष के सभी अधिकार छिन जावेंगे और यह तो एक मखौल ही होगा।

फिर एक प्रश्न है कि इतने लंबे एवं जटिल-अज्ञान का अन्त कैसे हो ? तो यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। '**अज्ञान का अन्त कैसे हो**' **ज्ञान में इस सबल-विचार का उत्पाद ही अज्ञान का प्राणान्तक है, क्योंकि प्रबल-अज्ञान में ऐसा समर्थ-विचार होता ही नहीं।**

अनादि-अज्ञान के प्रवाह में शुद्धात्मानुभूति-सम्पन्न किन्हीं ज्ञानी-सत्पुरुष का सुयोग मिलने पर जो महान्-उद्यमशील, आत्मा उनकी कल्याणी-वाणी को हृदयंगम करता है, उसका अनादि का अज्ञान शिथिल होकर इस समर्थ-विचार में प्रवृत्त होता है। ज्ञानी-गुरु के सुयोग एवं उनकी वाणी-मात्र से यह नहीं होता; वरन् गुरु की वाणी का मर्म जिसे अपने ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उसे यह विशुद्ध-चिंतनधारा प्रारम्भ होती है।

एक प्रश्न हमारा और हो सकता है कि अज्ञानी को ज्ञान ही नहीं है,

वह यह सब कैसे करता होगा? तो ऐसा नहीं है कि उसके पास ज्ञान का अभाव है। अज्ञानी के पास ज्ञान तो बहुत है, किन्तु पर-सत्ता-सक्ति के कारण उसके ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म-व्यवसाय भी पर में ही होता है। किन्तु यही ज्ञान सद्गुरु-भगवन्त से आनन्द-निकेतन स्व-सत्ता की महिमा सुनकर उसके प्रति उग्र-व्यवसाय करके सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है और अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन करने लगता है।

अज्ञानी के ज्ञान का यह ईहात्मक-प्रश्न है कि 'अज्ञान का अन्त कैसे हो?' अज्ञान को एक खुली चुनौती है। इस प्रश्न में अज्ञानी को अज्ञान का स्वरूप विदित हो चुका है। अब वह समझने लगा है कि मेरी चैतन्य-सत्ता तो अनादि-अनंत, पूर्ण, ध्रुव, अक्षयानन्द-स्वरूप एवं सर्व-संबंध-विहीन है और मेरी ही वृत्ति ने उसे नश्वर, अपूर्ण, दुःखी, अज्ञानी एवं पराधीन कल्पित किया है। यही मेरा अज्ञान था और अज्ञान आत्मा की पर्याय होने पर भी झूठा होने से कभी भी अनुशीलन के योग्य अर्थात् श्रद्धेय नहीं है, क्योंकि अज्ञान के अनुशीलन में कभी भी सही-आत्मसत्ता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

इसप्रकार अज्ञान को वह स्व-सत्ता विरोधी एवं नितान्त-मिथ्या मानकर अज्ञान एवं अज्ञान से प्रादुर्भूत, परावलम्बी पुण्य एवं पाप की वृत्तियों एवं अनन्त पर-सत्ताओं से एकत्व तोड़ता हुआ एवं **समर्थ-भेदज्ञान के बल से स्व-सत्ता में ही एकत्व एवं अहं की स्थापना करता हुआ अपने अविराम-चिन्तन द्वारा जब महामहिम, आनन्द-निकेतन निज-चैतन्यसत्ता में ही अलख जगाता है, तो सदा से पुण्य-पाप जैसी पर-सत्ताओं में पड़ा श्रद्धा का अहं कंपित एवं विडोलित होकर स्खलन को प्राप्त होता है और लौटकर अपनी ध्रुव-अक्षत**

सत्ता में ही अहंशील होता है। स्वरूप के अहं में धारावाहिक-सक्रिय इस गौरवमय-वृत्ति को ही 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

श्रद्धा का स्व-सत्ता में अहं परिणत होने के ही क्षण में श्रुतज्ञान की अविराम-चिंतनधारा मन का अवलम्बन तोड़ती हुई विराम को प्राप्त होकर उसी शुद्ध-चैतन्यसत्ता में एकत्व करती हुई अतीन्द्रिय- आनन्द की अनुभूति करती है। उपयोग की यह परिणति ही 'सम्यग्ज्ञान' है, जो अनुभूति का विलय हो जाने के उपरान्त भी भेद-विज्ञान की प्रचंड-क्षमता को लेकर सम्यग्दर्शन के साथ निरंतर बना रहता है और उसी समय किंचित्-रागांशों के अभाव से उत्पन्न अल्प-स्वरूप-स्थिरता ही 'स्वरूपाचरण-चारित्र' है।

इसप्रकार परम-आनन्दस्वरूप यह अनुभूति श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की त्रिवेणी है और साक्षात्-मोक्षमार्ग है।

जैनदर्शन का यह चिंतन सचमुच कितना वैज्ञानिक है कि जहाँ वह यह प्रतिपादन करता है कि जीवन-कला का आरम्भ ही जीवन-तत्त्व (निज अक्षय सत्ता) के स्वीकार से होता है, इसीलिए साधना के प्रथम-चरण में उसने सम्यग्दर्शन को स्थापित किया और कहा कि इसके बिना सर्वबोध एवं जीवन की सर्व आचार-संहिता मिथ्या ही होती है।

आत्म-पदार्थ की अनैकान्तिक-दृष्टि

सम्यग्दर्शन जैसी जीवन की महान्-उपलब्धि एवं उसके विषय को हृदयंगम करने के लिए यदि हम आत्म-पदार्थ के द्रव्य-पर्यायस्वरूप पर अनैकांतिक-दृष्टि से विचार करें, तो निर्णय बड़ा ही सरल हो जायेगा।

यह निर्विवाद है कि आत्म-पदार्थ के दो अंश हैं—'द्रव्य' एवं 'पर्याय'। आत्म-पदार्थ का 'द्रव्य' अंश जिसे शुद्ध-चैतन्यसत्ता, कारण-परमात्मा, परम-पारिणामिकभाव भी कहते हैं; सदा पर से भिन्न, अक्षय, अनन्तशक्तिमय, पूर्ण, ध्रुव, अत्यन्त शुद्ध एवं पूर्ण-निरपेक्ष है। उसमें कुछ भी करने का कभी भी अवकाश नहीं है और वह सदा ज्यों का त्यों रहता है। आत्मा के द्रव्यांश का यह स्वरूप प्रसिद्ध हो जाने पर अब उसका दूसरा-अंश 'पर्याय' शेष रह जाती है। यदि हम पर्याय की कार्य-मर्यादा पर विचार करें, तो हमारे मन में स्वाभाविक ही एक प्रश्न पैदा होगा कि 'द्रव्य के पूर्ण एवं शुद्ध-सिद्ध हो जाने पर पर्याय को तो द्रव्य में कुछ करना ही नहीं रहा, तब फिर पर्याय का कार्य क्या होगा ?' तो उसका एक सरल-उत्तर है कि जब आत्मा का स्वभाव ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि है, तो उसकी पर्याय का कार्य भी नित्य-विद्यमान द्रव्य की श्रद्धा, उसी का अहं, उसी की अनुभूति एवं उसी की लीनता करना रहा और पर्याय का स्वरूप भी आलम्बनशीलता ही है, वह द्रव्य की रचना नहीं करती, द्रव्य में कोई अतिशय नहीं लाती; वरन् द्रव्य जैसा है, वैसी ही उसकी प्रतीति एवं अनुभूति करती है। द्रव्य तो ज्ञान एवं अज्ञान दोनों दशाओं में ज्यों का त्यों रहता है। इसप्रकार अनैकांतिक-पद्धति में आत्म-पदार्थ के दो अंश 'द्रव्य' एवं 'पर्याय' की स्वरूप-सीमा भी स्थिर हो जाती है और आत्म-पदार्थ दो अंशों में खण्डित न होकर द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूरा बना रहता है।

गुण-पर्याय का 'अहम्' भी 'मिथ्यादर्शन'

आत्मा द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने पर भी द्रव्य और पर्याय का स्वरूप परस्पर-विरुद्ध होने के कारण श्रद्धा का अहं एक ही साथ दोनों में नहीं हो सकता। जैसे एक स्त्री का अहं एक ही साथ 'स्व' एवं 'पर' दो

पुरुषों में नहीं हो सकता। नित्य-द्रव्य के अहं में 'मैं अक्षय हूँ' ऐसी अनुभूति होती है और अनित्य-पर्याय के अहं में 'मैं क्षणिक हूँ' ऐसा संवेदन होता है। पर्याय का स्वरूप भी विविध-रूपा है। वह क्षणिक है, आलम्बनवती है, वर्तमान में विकारी है, भूत एवं भविष्य का वृत्ति-समुदाय वर्तमान में विद्यमान ही नहीं है एवं समग्र ही वृत्ति-समुदाय गमनशील है, उसमें विश्राम नहीं है। **पथिक को गमन में नहीं, गन्तव्य में विश्राम मिलता है; क्योंकि गन्तव्य ध्रुव एवं विश्रामस्वरूप होता है। इसीप्रकार आत्मवृत्ति को वृत्ति में नहीं ध्रुव में ही विश्राम मिलता है।** वृत्तियाँ तो स्वयं ही विश्राम के लिए किसी सत्ता को तलाशती हैं। इसप्रकार समग्र ही वृत्ति-समुदाय दृष्टि (श्रद्धा) के विषय-क्षेत्र से बाहर रह जाता है। इसी अर्थ में आचार्यदेव श्री अमृतचंद्र ने कहा कि "बद्ध-स्पृष्टादि-भाव आत्मा के ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, उनका आत्मा में प्रवेश नहीं होता।"

इस संबंध में कुछ और भी तथ्य विचारणीय हैं। आत्मा एक अनादि-अनन्त, ध्रुव एवं अक्षय सत्ता है। गुण एवं पर्याय तो उसके लघु-अंश हैं और वह एक ही सदा इनको पीकर बैठा है। अतः गुण-पर्याय के अनन्त-सत्त्वों से भी वह एक चिन्मय-सत्ता बहुत अधिक है। पर्याय जब उस अनन्तात्मक एक का 'अहं' एवं 'अनुभव' करती है, तो उस एक की अनुभूति में अनन्त ही गुणों का स्वाद समाहित हो जाता है। इसके विपरीत एक-एक गुण-पर्याय की अनुभूति की चेष्टा स्वयं ही वस्तुस्थिति के विरुद्ध होने से कभी भी फलित नहीं हो पाती, अतः प्रतिक्षण आकुलता ही उत्पन्न करती है; क्योंकि वस्तु के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त-गुणों की समष्टि इस तरह संगठित एवं एकमेक होकर रहती है कि उनमें से किसी एक के अनुभव का आग्रह अनंतकाल में

भी साकार नहीं होता, वरन् अज्ञानी अपनी इस चेष्टा में प्रतिक्षण विफल-प्रयास होने से निरन्तर प्रचण्ड-आकुलता को उपलब्ध करता रहता है। गुण-पर्याय के अहं में अनन्त गुण-पर्याय की एकछत्र-स्वामिनी भगवती-चैतन्य-सत्ता का महान-अपमान भी होता है। अतः गुण-पर्याय का अहं भी जड़-सत्ता का महान्-अवसान भी होता है। अतः गुण-पर्याय का अहं भी जड़-सत्ताओं के अहं के समान 'मिथ्यादर्शन' ही है।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय एक ही समय में ज्ञान के विषय तो बनते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनको अहं भी एक ही साथ समानरूप से समर्पित किया जाये। अनेक को एकसाथ जानना एक बात है और फिर उनमें से श्रद्धा (अहं) के विषय का चयन करना बिलकुल-भिन्न दूसरी-बात है। सभी ज्ञेय 'श्रद्धेय' नहीं होते, वरन् आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायमय परस्पर-विरुद्ध स्वरूप को जानकर ज्ञान ही यह निर्णय लेता है कि ये तीनों समानरूप से उपादेय नहीं हो सकते, वरन् तीनों में मात्र निरपेक्ष, निर्भेद एवं निर्विशेष द्रव्य-सामान्य ही 'उपादेय' अथवा 'श्रद्धेय' होने योग्य है। अन्य की उपादेयता स्पष्टरूप से मिथ्यादर्शन है।

ज्ञान का 'अनेकान्त' व दृष्टि का 'एकान्त'-स्वरूप ज्वलंत-प्रश्न का सरल-समाधान

एक वार्त्ता यह भी बहुलता से चलती है कि जब एकान्त-पर्यायदृष्टि अर्थात् पर्याय का अहं 'मिथ्या' एवं 'आकुलता-स्वरूप' है, तो एकान्त-द्रव्यदृष्टि भी मिथ्या एवं आकुलतामय होना चाहिए?

यह तर्क ठीक ऐसा ही लगता है कि गर्त में गिरना यदि एकान्त-

कष्टमय है, तो सदन का निवास भी एकान्त–कष्टप्रद ही होना चाहिए; किन्तु यह तर्क तो स्पष्ट–अनुभूति के विरुद्ध है। जब अनादि से समग्र ही पर्याय–समुदाय अज्ञान, राग–द्वेष एवं अनित्यता का आयतन है और इसके समानान्तर एकमात्र निज–चैतन्य–सत्ता ही शुद्ध, पूर्ण, ध्रुव एवं आनन्द–निकेतन है, तो दोनों में से किसका अहं एवं किसका अवलम्बन श्रेयस्कर होगा? एक बात और है और वह यह कि **ज्ञान सदा अनैकांतिक ही होता है और दृष्टि (श्रद्धा) सदा ऐकांतिक ही होती है।** द्रव्य एवं पर्याय के परस्पर–विरुद्ध दोनों पहलुओं का परिज्ञान हो जाने पर सहज ही निर्णय हो जाता है कि वृत्ति (दृष्टि) को दोनों में से कहाँ आराम मिलेगा। निश्चितरूप में ध्रुव–द्रव्य ही शाश्वत–आराममय है। इसप्रकार ध्रुव की महिमा ज्ञात हो जाने पर अनादि से क्षणिक वृत्ति–समुदाय में पड़ा श्रद्धा का 'अहं' विगलित होकर निज ध्रुव–सत्ता के अहं में परिणत हो जाता है।

श्रद्धा का विषय इतना स्पष्ट होने पर भी प्रमाणाभास से ग्रासीभूत–आग्रह श्रद्धा के विषय में पर्याय शामिल किये बिना तृप्त नहीं होते। किन्तु हमारा संतुलित, विशुद्ध–चिन्तन स्वयं हमें यह समाधान देगा कि श्रद्धा के विषयक्षेत्र में पर्याय के भी पदार्पण का हमारा आग्रह अविवेक तो है ही, साथ ही अत्यन्त–अव्यावहारिक भी है।

इस संबंध में एक अत्यन्त–महत्त्वपूर्ण बात सदा द्रष्टव्य है। एक प्रश्न है कि श्रद्धा का श्रद्धेय पहले से ही विद्यमान एवं पूर्ण होता है या श्रद्धा के क्षण में स्वयं श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय के साथ मिलकर उसे पूरा करती हैं और तब वह उसका श्रद्धेय होता है ?

यदि श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय को पूरा करती हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि श्रद्धेय सदा ही अपूर्ण है और अपूर्ण–श्रद्धेय में

श्रद्धा का सर्व-समर्पण एवं लीनता अनंतकाल में भी सम्भव नहीं है। इसप्रकार श्रद्धेय की अपूर्णता में श्रद्धा का स्वरूप सदैव संदिग्ध, भ्रान्त एवं मलिन ही रहेगा और वह कभी भी सर्व-समर्पणपूर्वक श्रद्धेय का वरण नहीं करेगी।

एक बात और है—यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान में अज्ञानी का सर्व पर्याय-समुदाय विकारी है और स्व एवं पर, द्रव्य एवं पर्याय, विकार एवं निर्विकार आदि का तात्त्विक-चिंतन एवं विश्लेषण भी अज्ञान-दशा में ही प्रारम्भ होता है। अतः द्रव्य एवं पर्याय के तात्त्विक-विश्लेषण में पर्याय-समुदाय के विकार एवं अनित्यता का पता लग जाने पर भी उसे निर्विकारी-द्रव्य के साथ मिलाकर अनुभव करने का आग्रह तो भयंकर-अविवेक ही होगा। और क्या इस अविवेकपूर्ण-प्रयास में किसी मनोरम, रमणीक एवं परम-निर्विकार श्रद्धेय की अनुभूति एवं उपलब्धि हो सकेगी? विकार को निर्विकार के साथ एकाकार करके अनुभव करने के प्रयास में वास्तव में दोनों कभी एकमेक तो होते ही नहीं, वरन् इस दुराग्रह में द्रव्य एकांत-विकारी ही अनुभव में आता है, कुछ विकारी एवं कुछ निर्विकारी नहीं। वास्तव में यह आग्रह शुद्ध, 'दूध में राख मिलाकर सेवन करने' तुल्य है। जब दूध एवं राख परस्पर-विपरीत दो तत्त्व हैं और दोनों की अत्यन्त-भिन्न अनुभूति हो सकती है, तो दोनों को मिलाकर सेवन करने का आग्रह तो मात्र बालचेष्टा ही होगा। इस चेष्टा में कभी भी शुद्ध-दूध की अनुभूति संभावित नहीं होगी एवं कुछ शुद्ध-दूध की अनुभूति और कुछ अशुद्ध-दूध की अनुभूति—ऐसा द्वैत न होकर एकांत-अशुद्धता का ही अनुभव होगा।

इसीप्रकार परम-निर्विकार द्रव्य एवं क्षणिक-विकारी पर्याय-

समुदाय—दोनों परस्पर-विपरीत दो भाव होने से दोनों में से एक समय में एक का ही अहं एवं अनुभूति, अत्यन्त असंदिग्ध है। तब फिर दोनों को मिलाने का दुराग्रह क्यों ? और यह आग्रह तो तब होना चाहिए, जब एकसमय में एक के बिना दूसरे का संचेतन असम्भव हो। किन्तु दोनों भाव परस्पर-विपरीत होने से शुद्ध-चैतन्यतत्त्व की अनुभूति अशक्य एवं दुःसाध्य तो है ही नहीं, वरन् सरलतम, सुखद एवं परम-मंगलमय होती है। अतः क्षणिक एवं विकारी-पर्याय के सम्मिश्रण के बिना परम निर्विकार-द्रव्य के वेदन की अशक्यता का प्रतिपादन ज्ञान का भंयकर-क्लैव्य है, फलस्वरूप तिरस्करणीय है।

क्या है पर्याय का हेयत्व ?

वस्तुतः अज्ञानी को अपनी विशुद्ध-चिंतनधारा में जब यह पता लगता है कि "मेरी सत्ता तो नितान्त-शुद्ध एवं अक्षय है और मेरी ही वृत्ति उसे 'अशुद्ध' एवं 'नश्वर' घोषित करती रही है", तो वृत्ति-समुदाय के मिथ्या-प्रलाप का उद्घाटन हो जाने पर वृत्ति-समुदाय में पड़ा उसका विश्वास स्खलित होकर शुद्ध-चैतन्य-सत्ता में अपने अहं की स्थापना कर लेता है। इस विश्वास में सदैव ही पर्याय के स्वर का निषेध प्रवर्तित होता है। इसी को पर्याय का हेयत्व कहते हैं। **स्पष्ट-बात तो यह है कि दृष्टि में निषेधरूप भी कोई वृत्ति प्रवर्तित नहीं होती, वरन् निरन्तर निज-शुद्ध-चैतन्य-सत्ता में अहं का प्रवर्तन ही पर्याय का निषेध अथवा हेयत्व कहा जाता है।** फिर भी यदि हमारा पूर्वाग्रह विकारी एवं अनित्य वृत्ति-समुदाय को परम-निर्विकार नित्य-द्रव्य के साथ मिलाकर अपने श्रद्धेय की रचना करेगा, तो उस श्रद्धेय का क्या स्वरूप होगा ? इसकी कल्पना भी संभव नहीं है। संभवतः इस मिथ्या एवं विफल-प्रयास में श्रद्धा एवं श्रद्धेय का

सम्पूर्ण–सौन्दर्य ही नष्ट हो जावेगा। इसीप्रकार भावी निर्विकारी–पर्याय–समुदाय को द्रव्य में मिलाकर श्रद्धा करने का आग्रह भी समान–कोटि का मिथ्यादर्शन ही है, अत: उस अविद्यमान–सत् को विद्यमान–द्रव्य में मिलाने की विधि क्या होगी ? **दूसरी वजनी–बात यह है कि कोई भी पर्याय नित्य–विद्यमान निर्विकारी निज–चैतन्य–सत्ता के अवलम्बन पर शुद्ध होती है, न कि शुद्ध–पर्याय का अवलम्बन होता है।**

इस संदर्भ में एक अत्यन्त–सुन्दर–मनोवैज्ञानिक–तर्क भी हमें समाधान देगा कि जब इस विश्व की अनंत–सत्ताओं की तरह निज–चैतन्य–सत्ता भी संपूर्ण एवं सुन्दर है और विश्व की प्रत्येक सत्ता के पास जितना वैभव है, उतना ही हमारे पास भी है, तथा अन्य–सत्ताओं के स्वामी अन्य–द्रव्य ही हैं और अन्य–द्रव्य ही होने चाहिए एवं उनके स्वामित्व का हमें कोई अधिकार नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए; तो फिर संपूर्ण एवं सुन्दर स्व–सदन (स्व–सत्ता) का अवलंबन छोड़कर पर–सदन (पर–सत्ता) में प्रवेश का यत्न क्या वैध एवं विधेय होगा ? और क्या इस बलात्कार में शांति एवं आनंद की उपलब्धि हो सकेगी ? निश्चित ही नहीं होगी, वरन् यह यत्न 'विश्व का महान्–अपराध' घोषित किया जाएगा।

पुन: एक अत्यन्त–हृदयग्राही–तथ्य भी हमारा ध्यान आकर्षित करेगा और वह यह कि वस्तु की वृत्ति को स्वयं वस्तु में ही विराम न मिले, यह विधान किसने बनाया ? माँ की गोदी में अपने ही बालक को धारण करने की क्षमता कब नहीं रहेगी ? और वस्तु की वृत्ति अपनी ही वस्तु के अनंत एवं अपरिमित–वैभव में संतुष्ट न हो और अन्य की ओर आकर्षित होकर अन्य सत्ताओं में अपना प्रेय एवं श्रेय तलाशती

फिरे, जगत् में इससे बड़ा आश्चर्य भी क्या होगा ? सुमन की सौरभ को स्वयं अपने सुमन में संतोष नहीं, तो फिर जगत् में वह कौन-सा सुमन होगा जो इस सौरभ को अपने में शरण देगा ? और वृत्ति को वृत्तिमान में विराम न मिले, लोक में यह लचर-व्यवस्था किसने पैदा की ? निश्चित ही इस कल्पना में किसी स्वस्थ एवं सुन्दर-विश्व की उपलब्धि तो नहीं हो सकेगी। अतः वृत्ति को वृत्तिमान का अवलम्बन ही विश्व का परम-सौन्दर्य है।

सम्यक्-श्रद्धा का श्रद्धेय 'पूर्ण' ही होता है

शुद्ध-चैतन्यसत्ता मिथ्यादर्शन-विकारी-पर्याय-समुदाय से विकारी नहीं बनती, वरन् उस शुद्ध- चैतन्यसत्ता का अदर्शन अर्थात् अविश्वास ही मिथ्यादर्शन की विकारी-पर्याय है। इसीप्रकार वह चैतन्य-सत्ता सम्यग्दर्शनादि शुद्ध-पर्यायों के उत्पन्न होने पर शुद्ध नहीं होती, वरन् उस शुद्ध-चैतन्यसत्ता का दर्शन अर्थात् अहं ही सम्यग्दर्शन की शुद्धपर्याय है। इसप्रकार चैतन्यसत्ता की त्रैकालिक-शुद्धता एवं सर्व पर्याय-निरपेक्षता अत्यन्त-निरापद है और सर्व ही अनित्य एवं विकारी-पर्यायसमुदाय उसकी ध्रुव-परिधि के बाहर रह जाता है। यहाँ तक कि **ध्रुव-सत्ता के अहं को 'सम्यग्दर्शन' कहा तो जाता है; किन्तु सम्यग्दर्शन वास्तव में 'ध्रुव का अहं' नहीं वरन् स्वयं 'ध्रुव' है। इसप्रकार स्वयं सम्यग्दर्शन भी सम्यग्दर्शन की परिधि (ध्रुव) के बाहर रह जाता है और द्रव्य-पर्याय-स्वरूप पूरे आत्म-पदार्थ में सम्यग्दर्शन का विषय पदार्थ का अनंत-गुणात्मक सामान्य-द्रव्यांश ही होता है, किन्तु अंश होने से वह अपूर्ण नहीं वरन् स्वयं ही पूर्ण है; क्योंकि उसे परद्रव्य एवं अपनी पर्याय की भी कोई अपेक्षा नहीं होने से वह अत्यंत-निरपेक्ष है**

और इसलिए वह पूर्ण है। दृष्टि (श्रद्धा) भी उसमें अंश की नहीं वरन् पूर्ण की प्रतीति करती हुई स्वयं पूर्ण है। इसप्रकार दोनों अंशों की पूर्णता ही वस्तु की पूर्णता है।

ध्रुव को अंश मानकर श्रद्धा करना प्रकारान्तर से 'मिथ्यादर्शन' ही है। जैसे ग्यारह के अंक में एक के दोनों अंक अपने-अपने में पूर्ण ही हैं। इसप्रकार दोनों की पूर्णता ही ग्यारह की पूर्णता है। यदि एक के दोनों अंक अपूर्ण हों, तो ग्यारह का पूर्णांक ही उपलब्ध नहीं होगा; क्योंकि दो अपूर्ण स्वयं तो कभी भी पूरे होते ही नहीं, किन्तु दोनों मिलकर भी किसी एक पूर्ण-स्वरूप को निष्पन्न नहीं कर सकते। यह वस्तु-स्वभाव की स्वयंसिद्ध-विलक्षणता ही है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन को जो 'ध्रुव का अहं' कहा जाता है, वह ज्ञान का व्यवहार है, किन्तु **सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को 'ध्रुव का अहं' स्वीकार नहीं करता, वरन् 'ध्रुव' स्वीकार करता है।** अपने समक्ष-विद्यमान 'ध्रुव' में 'मैं ध्रुव हूँ' ऐसी उसकी अभेद-स्वीकृति होती है और इस अभेद-स्वीकृति को ही 'ध्रुव का अहं' कहते हैं।

'अहंमय ध्रुव' श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में 'पूर्ण' में 'पूर्ण के अंह' के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है, अतः उस पूर्ण में 'पूर्ण के अहं' का भी त्रिकाल-अभाव है और जिसमें कुछ मिलाया जा सके, वह पूर्ण कैसा ? अतः यदि श्रद्धा का स्वर यह हो कि 'मैं पूर्ण का अहं हूँ,' तो इस स्वर में 'पूर्ण का अहं' नहीं, वरन् 'अहं का अहं' प्रवर्तित होता है और वह तो स्पष्ट-मिथ्यादर्शन ही है।

यदि श्रद्धा को अपने में ही, पर्याय को पर्याय में ही विश्राम मिल

जाता है, तो फिर वह आलंबन क्यों तलाशती है? और यदि वह आलबंन तलाशती ही रही, तो इसका अर्थ यह है कि उसे स्वयं अपने में विराम नहीं मिला। अत: स्वयं 'अहं' एवं 'अहं' की मिलावटवाला पूर्ण-श्रद्धा का आलंबन नहीं होता, वरन् निरपेक्ष, पूर्ण उसका आलम्बन होता है। अत: श्रद्धा में स्वयं श्रद्धा का भी अत्यन्त-तिरोभाव होकर एकमात्र 'पूर्ण' का वर्चस्व ही आर्विभूत रहता है। उसमें ज्ञान की भाँति 'मुख्य' एवं 'गौण' की कोई व्यवस्था नहीं है।

'ध्रुव'-तत्त्व श्रद्धा के लिए मुख्य-तत्त्व नहीं, वरन् वह उसका सर्वस्व ही है। इसीलिए सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को मिटाकर ध्रुव का दर्शन करता है। वह अपने को 'गौण' की कक्षा में भी नहीं रखता। वास्तव में अपने को बचाकर श्रद्धेय को अपना समर्पण करने की वार्ता तो एकदम-छल एवं छद्म है। स्वयं को मिटाये बिना समर्पण का स्वरूप ही नहीं बन सकता। इसीलिए सम्यग्दर्शन की दुनियाँ में 'सम्यग्दर्शन' संज्ञावाली कोई वस्तु ही नहीं है। राधा ने जगत् में राधा को कभी देखा ही नहीं। उसकी दुनियाँ कृष्ण की बनी थी। **श्रद्धा की इस अनंत-शून्यता में ही 'ध्रुव' की मंगलमय-बस्ती बसती है और इसीलिये श्रद्धा का यह अद्वैत अनंत-आनन्दमय होता है।**

इस पद्धति में आत्मा को मात्र ध्रुव मानने से उसमें पर्याय का अभाव नहीं हो जाता, वरन् **'ध्रुव एवं ध्रुव की श्रद्धा'**, 'पूर्ण एवं पूर्ण का अहं', इसप्रकार दोनों अंशों की निरपेक्ष-पूर्णता में आत्म-पदार्थ द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूर्ण ही बना रहता है, जैसे शरीर के प्रत्येक अंग की पूर्णता ही शरीर की पूर्णता है। यदि शरीर के सभी अंग अधूरे हों, तो सब अधूरे-अंगों से एक पूर्ण-शरीर तो निष्पन्न नहीं हो सकता। इसीप्रकार

'आधा-द्रव्य एवं आधी-पर्याय' यह पदार्थ का स्वरूप नहीं, वरन् 'पूर्ण-द्रव्य एवं पूर्ण-पर्याय'-यह पदार्थ का स्वरूप होता है।

वास्तव में ध्रुव को अंश माननेवाली श्रद्धा में पूर्णता की प्रतीति ही नहीं होगी, फलस्वरूप अनुभूति में आनन्द की निष्पत्ति ही नहीं होगी; वरन् अंश अर्थात् अपूर्ण की प्रतीति होने से सदा ही ऐसा लगता रहेगा कि आत्मा में अभी कुछ कमी है। **निश्चय ही श्रद्धा आदि वृत्तियों का कार्य ध्रुव-आत्मा में कुछ करना नहीं, वरन् उसे ध्रुव-मात्र मानना होता है। 'मैं ध्रुव हूँ' यही सम्यग्दर्शन का स्वर है। सम्यग्दर्शन की काया 'ध्रुव' से ही निर्मित है। उसमें सर्वत्र 'ध्रुव' ही पसरा है। अनित्यता उसमें है ही नहीं। उसे विश्व में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य-सत्ता का स्वीकार ही नहीं है। उसका विश्व ही ध्रुव है।**

यदि दृष्टि में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य-सत्ता का भी स्वीकार हो, तो दृष्टि का स्वभाव 'अहं' होने के कारण उसे अन्य-सत्ता में अहं हुए बिना नहीं रहेगा और यही अहं 'मिथ्यादर्शन' है।

'मेरी सत्ता ध्रुव है',-सम्यग्दर्शन को द्रव्य-पर्याय का यह भेद भी बर्दाश्त नहीं है। दृष्टि (श्रद्धा) का स्वरूप ही ऐसा है। उसे ज्ञान की तरह स्व-पर का भेद करना नहीं आता, उसे तो अहं करना आता है। उसके लोक में कोई 'पर' है ही नहीं। वह मिथ्या होती है, तब भी उसे सब स्व ही दिखाई देता है, तब सम्यक् होने पर तो उसकी परिधि में अन्य-भावों का प्रवेश कैसे सम्भव है ? **और तो और, सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।**

सौराष्ट्र के सन्त ने भव के अन्त के लिए 'ध्रुव' का यह मंगल-सूत्र लोक को दिया। उन्होंने सम्यग्दर्शन के जिस स्वरूप का अनुसंधान

किया, वह इस युग का एक आश्चर्य है। सम्यग्दर्शन के इस सूक्ष्म एवं अद्भुत-स्वरूप का इस युग को स्वप्न भी नहीं था। **वास्तव में श्री कानजीस्वामी इस युग में सम्यग्दर्शन के उद्घाटक हैं और वह भवान्तक-सम्यग्दर्शन इस युग को उनका सबसे महान्-वरदान है।** इसके स्वरूप का बोध उनके बिना सम्भावित ही नहीं था।

उन सत्पुरुष ने सम्यग्दर्शन के संबंध में प्रचलित सभी भ्रान्तियों को प्रक्षालित कर दिया। कोई कहते थे कि "सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है", तो कोई "सात तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते थे।" किसी ने तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस किया कि "जैनकुल में जन्म ही सम्यग्दर्शन है।" कहीं से आवाज आई कि "सम्यग्दर्शन काललब्धि आने पर अपने-आप होता है, उसके लिए पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है और उत्पन्न हो जाने पर भी स्वयं को उसका पता नहीं चलता।" किन्तु उन महापुरुष ने रहस्योद्घाटन किया कि इनमें से एक भी सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है। इतना ही नहीं इन सबकी समग्रता में भी प्रचंड अन्तर-पुरुषार्थ के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह भी नितांत-असत्य है कि 'सम्यग्दर्शन होने पर स्वयं को उसका पता नहीं चलता।' सम्यग्दर्शन का उद्भव होने पर साधक को निज शुद्ध-चैतन्य-सत्ता की लीनता में अतीन्द्रिय-आनन्द का प्रत्यक्ष-संवेदन होता है। आगम का अक्षर-अक्षर इसका साक्षी है।

उन सन्त ने सम्यग्दर्शन के इस 'निश्चय-पक्ष' का ही विवेचन नहीं किया, वरन् उसके व्यावहारिक-पक्ष का भी प्रबल-समर्थन किया। उन्होंने कहा "**सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय एवं अभक्ष्य का सेवन**

नहीं करता। उसका लोक-जीवन बड़ा पवित्र होता है। वह स्वप्न में भी अतत्त्व एवं असत्य का समर्थन नहीं करता। वही सच्चे देव-गुरु-धर्म का सच्चा-उपासक होता है। जीवन में इस विशुद्धि के प्रादुर्भाव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। उसका जन्म पवित्र-मनोभूमि में ही होता है।''

सम्यग्दर्शन की गरिमा को गाते-गाते वे सन्त विभोर हो जाते हैं। वे कहते हैं—''सम्यग्दर्शन जीवन की कोई महान्-उपलब्धि है। वह जीवन-तत्त्व एवं जीवनकला है। उसके बिना जीवन, मृत्यु का ही उपनाम है। ज्ञान में स्व-पर का भेद समझने की क्षमता होने पर सम्यग्दर्शन हर परिस्थिति में हो सकता है। सातवें नरक की भयंकरता अथवा स्वर्गों की सुषमा उसमें बाधक नहीं होती। कर्मकाण्ड के कठिन-विधान उसकी उत्पत्ति में मदद नहीं करते। उसे घर नहीं छोड़ना है, देह का विसर्जन नहीं करना है; वरन् घर एवं देह में रहकर ही उनसे अहं को तोड़ना है। इसीलिए सम्यग्दर्शन सरल है। कठिन की कल्पना ही कठिनाई है। सम्यग्दर्शन अनुकूल अथवा प्रतिकूल-परिस्थिति का दासत्व स्वीकार नहीं करता। इसीलिए नरक एवं स्वर्ग के विषम-वायुमण्डल में भी 'मैं नारकी नहीं', 'मैं देव नहीं'; वरन् 'मैं तो अक्षय चैतन्य-तत्त्व हूँ'—ऐसे अविराम-संचेतन में उसका जन्म हो जाता है। इसीलिए वह हर गति में होता है।''

इस युग में सम्यग्दर्शन श्री कानजीस्वामी की एक ऐसी शोध है, जिसने मृत्यु की ओर बढ़ते युग के चरण जीवन की ओर लौटा दिये हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि उस संत के सम्यग्दर्शन ने मृत्यु को ही मारकर विश्व से उसकी सत्ता ही समाप्त कर दी है।

'सम्यक्चारित्र' का सौन्दर्य

सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की तरह पूज्य गुरुदेव ने चारित्र का भी एक प्राञ्जल-स्वरूप प्रस्तुत किया। वे चारित्र के महान्-उपासक हैं। चारित्रवन्त दिगम्बर-सन्तों के अन्तर-बाह्य-स्वरूप का वर्णन करते-करते वे अघाते नहीं हैं। सहस्रों बार उनके अन्तस्तल से ये उद्‌गार सहज ही निकल पड़ते हैं कि "ऐसे वन-विहारी नग्न दिगम्बर वीतराग-सन्तों के दर्शन हमें कब प्राप्त हों और वह अवसर कब आवे जब उस आनंदमय नग्न-दिगम्बर-दशा की हमें उपलब्धि हो।" कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे अनन्त-भावलिंगी-सन्तों के चरणों में उनका मस्तक सदा नत रहता है। आनन्द में झूलते दिगम्बर-सन्तों के हृदय के मर्म को आज वे ही पहिचान पाये हैं। मुनित्व के बाह्य-इतिवृत्तों में मुनि का आत्मा खो गया था। चारित्र को कठिन एवं कष्टसाध्य माना जाता था। चारित्र के उस महान-उपासक की वाणी के माध्यम से चारित्र का सही स्वरूप आज निखरा है। कोरे शुभ-अनुष्ठानों की काली-कारा में चारित्र जैसे जीवन-तत्त्व को कैद करने के सभी प्रयत्न आज उस सन्त ने विफल कर दिये हैं। उन्होंने शंखनाद फूँका "**चारित्र न तो घर-बार आदि बाह्य-संयोगों का वियोग-मात्र है और न कर्मकाण्ड की छलांगें। न कोरा-नग्नत्व ही चारित्र है। न महाव्रत, समिति आदि का पराश्रित-शुभाचार। उपसर्ग एवं परिषह झेलना भी चारित्र नहीं, तो इन्द्रियों का दमन एवं भयंकर-कायक्लेश भी नहीं; वरन् स्वरूप में अन्तर्लीन आनन्द-वृत्ति ही चारित्र है।**"

श्री कानजीस्वामी ने चारित्र के अनिवार्य-सहचर शुभाचार का भी, जिसे व्यवहार-चारित्र कहते हैं, पूरा समर्थन किया। उन्होंने कहा- "**शुभाचार, जो मात्र मंदकषाय की ही पर्याय है, उसे चारित्र**

मानना तो मिथ्यादर्शन है ही, किन्तु वीतरागचारित्र के अनिवार्य-सहचर शुभाचार का सत्त्व ही स्वीकार न करना भी समान-कोटि का मिथ्यादर्शन ही है।'' मुनित्व की भूमिका में उग्र-चारित्र के साथ रहनेवाले शेष-कषायांश इतने मंद हो जाते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति 28 मूलगुणरूप शुभाचार के रूप में होती है। अतएव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यद्यपि नग्नता मुनित्व नहीं, किन्तु मुनि नग्न ही होते हैं और अन्तरंग-परिग्रह के अभाव के साथ उनके तिल-तुष मात्र भी बाह्य-परिग्रह नहीं होता। मुनि का स्वरूप जमाने के अनुसार नहीं बदलता, वरन् उनका त्रैकालिक-स्वरूप एक ही होता है।

उन्होंने व्यवहार-चारित्र का बड़ा स्पष्टीकरण किया और कहा कि **''व्यवहार (शुभभाव) का कोई चारित्र नहीं है, वरन् वह तो अचारित्रभाव में चारित्र का आरोप-मात्र है; क्योंकि अन्तरंग वीतराग-चारित्र के साथ वह शुभभाव-भूमि नियम से होती है तथा उस शुभभाव-भूमि के प्रकट हुए बिना वीतराग-चारित्र भी प्रकट नहीं होता। इसी अनुरोध से मन्द-कषायरूप उस अचारित्रभाव को भी 'चारित्र' कहने की एक पद्धति है और इसी पद्धति को 'व्यवहारनय' कहते हैं। किन्तु वस्तुतः चारित्र तो आनन्दमय-वीतरागभाव ही है और वही मोक्षमार्ग है। मन्द-कषायरूप व्यवहारचारित्र 'चारित्र' का विकार मात्र है। वह थोड़ा भी चारित्र नहीं है और सर्व ही बन्धस्वरूप है।''**

सम्यग्दृष्टि को जीवन में सदा ही चारित्र के प्रादुर्भाव की उग्र-भावना प्रवर्तित होती है। उसे भले ही पुरुषार्थ की निर्बल-गति के कारण चारित्र नहीं होता; किन्तु वह कभी भी चारित्र की आनन्दमय-वृत्ति के प्रति उदासीन एवं प्रमादी भी नहीं होता। अतः निश्चित ही उसे

इस भव अथवा भवान्तर में चारित्र का उदय होता है। **मोक्षमार्ग की क्रमिक-भूमिकाओं का उल्लंघन करके जल्दबाजी करने से चारित्र नहीं आता, वरन् शुद्ध-चैतन्य-तत्त्व की उग्र-भावना से ही जीवन में चारित्र का उदय होता है।**

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का तो विशद-विवेचन श्री कानजीस्वामी की वाणी में हुआ ही है, किन्तु साथ ही जैनदर्शन के आधारभूत-सिद्धान्त-निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं आर्हत्-दर्शन का प्राण 'अनेकान्त' आदि का जो अत्यन्त-प्रामाणिक, आगम-सम्मत एवं सतर्क-प्रतिपादन हुआ है, वह चित्त को चकित कर देता है। सम्भवतः जैनदर्शन का आधारभूत कोई सिद्धांत ऐसा नहीं है, जिसमें उनके ज्ञान एवं वाणी का व्यवसाय नहीं हुआ हो, अध्यात्म का ऐसा सांगोपांग-विवेचन तो शताब्दियों में नहीं हुआ। बयालीस वर्ष से अध्यात्म की बरसातें करती हुई उनकी प्रज्ञा ने अज्ञान की जड़ें हिला दी हैं। तीर्थंकरों एवं वीतरागी-सन्तों के हृदय का मर्म खोलकर उन्होंने हमें तीर्थंकरों के युग तक पहुँचा दिया है। उनकी प्रज्ञा ने आगम के गम्भीर-रहस्यों की थाह लेकर जो मर्म निकाले हैं, वह इस युग का एक आश्चर्य-सा लगता है। वाणी का यह कमाल कि बयालीस-वर्ष के धारावाहिक-प्रवचनों में कहीं भी पूर्वापर-विरोध नहीं है। आत्म-प्रसिद्धि, नय-प्रज्ञापन एवं अध्यात्म-संदेश जैसी साहित्यिक-निधियाँ उनकी निर्मल एवं पैनी-प्रज्ञा के ऐसे प्रसव हैं; जिन्हें देखकर आज के युग का बौद्धिक-अहं उनके चरणों की धूल में धूसरित होकर गर्व का अनुभव करेगा।

उनके प्रवचनों से कल्पनातीत आध्यात्मिक-साहित्य का सर्जन हुआ है। शाश्वत-शान्ति के विधि-विधानों से भरे उनके आध्यात्मिक-

साहित्य ने भारतीय-साहित्य का शीश विश्व में ऊँचा किया है। वह साहित्य युग-युग तक शान्ति के पिपासुओं को सच्ची-शान्ति का दिशा-निर्देशन करता रहेगा।

उन्होंने जिस आध्यात्मिक-क्रान्ति को जन्म दिया है, उसने युग के प्राण मौत के मुँह से निकाल दिये हैं। आज जन-जन के श्वास-प्रश्वास में अमरत्व का संचार होने लगा है। आज के त्रस्त जन-जीवन को उनकी वाणी में सही राह एवं राहत मिली है। अतः निष्पक्ष-दृष्टि से स्वीकार करें तो **श्री कानजीस्वामी का युग भारतीय-इतिहास एवं श्रमण-संस्कृति का निश्चित ही एक स्वर्ण-युग है।**

उन्होंने भारतीय-इतिहास में एक बेजोड़-अध्याय जोड़ा है। वे उस क्रान्ति के उन्नायक-महामानव हैं, जिसका जन्म रक्त में नहीं विरक्त में होता है। जिस क्रान्ति के उदय में आत्मा क्लान्ति का नहीं, वरन् मंगलमय-शान्ति का संवेदन करता है। लक्ष-लक्ष मानवों ने उनकी इस शान्तिवाहिनी-क्रान्ति का समर्थन किया है और उसके सत्य को परखकर उसमें दीक्षित हुए हैं। **आज लोक का यह स्वयं कि ''यदि यह मुक्तिदूत नहीं होता, तो हमारी क्या दशा होती? लोक-हृदय की सच्ची-अभिव्यजंना है। निःसन्देह श्री कानजी-स्वामी लोक-मांगल्य की प्रतिष्ठा करनेवाले एक लोकदृष्टा एवं लोकसृष्टा युगपुरुष हैं।**

इन महापुरुष का अन्तर जैसा उज्ज्वल है, बाह्य भी वैसा ही पवित्र है। उनकी अत्यन्त-नियमित दिनचर्या, सात्त्विक एकरूप एवं परिमित-आहार, आगमसम्मत सत्य-सम्भाषण, करुण एवं सुकोमल-हृदय उनके विरल-व्यक्तित्व के अभिन्न-अवयव हैं। 87 वर्ष की अतिवृद्ध-अवस्था में भी उनकी दिनचर्या इतनी नियमित एवं संयमित रही कि

एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। ''समयं गोयम! मा पमायए'' (अर्थात् हे गौतम! एक समय के लिए भी प्रमाद मत करो) अर्धमागधी-आगम में भी झंकृत हुई वीर-वाणी उनके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई है। शुद्धात्मतत्त्व का अविराम-चिन्तन एवं स्वाध्याय ही उनका जीवन है। जैन-श्रावक के पवित्र-आचार के प्रति वे सदैव-सतर्क एवं सावधान हैं। उसका उल्लंघन उन्हें सह्य नहीं है। उनके जीवन का प्रत्येक-स्थल अनुकरणीय है। निश्चित ही वे इस जगत् के वैभव हैं और युग उन्हें पाकर गौरवान्वित हुआ है।

वे युगपुरुष युगों-युगों तक मुक्ति का संदेश प्रसारित करते हुए युग-युग जीवें, यही आज युग के अन्तस् की एकमात्र-कामना है।

मैं उन युगपुरुष की 87वीं जयन्ती के पुण्य-पर्व पर अपनी श्रद्धा के अनन्त सुमन उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।

❀❀❀

ज्ञानस्वभाव-सम्यग्ज्ञान

(स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान स्वभाव)

'ज्ञान' आत्मा का सार्वकालिक-स्वभाव है, यह आत्मा की एक असाधाण-शक्ति तथा लक्षण भी है। अनन्त जड़-चेतन-तत्त्वों के समुदाय इस विश्व में ज्ञान से ही चेतन की भिन्न-पहिचान होती है। वह आत्मा का एक प्रमुख-गुण है, जो विश्व का सविशेष, सार्वकालिक-प्रतिभासन करता है। आत्मा के अनन्त-गुण तथा धर्म भी ज्ञान में ही प्रतिबिंबित होते हैं, मानों ज्ञान में ही आत्मा का सर्वस्व समा रहा हो।

श्री 'समयसार' परमागम में आत्मा को 'ज्ञानमात्र' ही कहा है। लोक में भी किसी एक ऐसी विशेषता की अपेक्षा किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने की पद्धति है कि जो उसका सम्पूर्ण-प्रतिनिधित्व कर सके। जैसे किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से सम्बोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी एक ऐसी विशेषता है, जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहिचाना जाता है। यद्यपि उसमें अन्य सामान्य-मनुष्यों जैसी तथा व्यक्तिगत अपनी अनेक-विशेषतायें भी हैं। वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है; किन्तु 'न्यायाधीश' संज्ञा में उसका संपूर्ण सामान्य-विशेष-व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है। अतः 'न्यायाधीश' शब्द उसका सम्पूर्ण-

प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है, वह सब न्यायाधीशत्व में समवेत है। इसीप्रकार ज्ञान आत्मा के अनन्त गुण-धर्मों के समान यद्यपि ज्ञान भी आत्मा का एक गुण-विशेष ही है, किन्तु उसके बिना आत्मा पहिचाना ही नहीं जा सकता। ज्ञान का व्यापार प्रगट-अनुभव में आता है। अन्य-शक्तियों में यह विशेषता नहीं है। अतः 'उपयोगो लक्षणम्' की छाया में अनन्त-पदार्थों के समुदाय इस घुले-मिले से विश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतन्त्र-अस्तित्व एवं व्यक्तित्व सिद्ध होता है। न केवल आत्मा वरन् जगत् के अस्तित्व की सिद्धि भी ज्ञान ही करता है। ज्ञान जगत् के निगूढतम-रहस्यों का उद्घाटन करता है। अतः ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है और उसके बिना विश्व में आत्म-संज्ञक किसी चेतनत्व की कल्पना ही व्यर्थ है।

ज्ञान के स्वभाव को हृदयंगम कर लेने पर सम्पूर्ण आत्म-स्वभाव की समझ ही सुलभ हो जाती है। अतः मनीषी-आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार' परमागम में आत्मा को ज्ञान-मात्र ही कहा है। **ज्ञान-मात्र कहने में आत्मा का मात्र ज्ञान-गुण नहीं, वरन् अनन्त गुण-धर्मों के समुदाय एक अखंड-ज्ञायक आत्मा की ही प्रतीति होती है। ज्ञान की स्मृति-मात्र में ही अखंड-चेतन-तत्त्व अपनी अनन्त-विभूतियों के साथ दृष्टि में आता है। ज्ञान के एक क्षण के परिणमन को देखिये, उसमें आत्मा का सर्वस्व ही परिणमित है, अतः आत्मा मानो ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेद-दृष्टि में ज्ञान आत्मा ही है।**

यह ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक-स्वभाव है, **जो स्वभाव-त्रैकालिक होता है, उसका वस्तु से कभी व्यय नहीं होता और वस्तु की भाँति वह सदा पूर्ण, अखंड और शुद्ध होता है।** वस्तु उस स्वभाव की ही

बनी होती है। अतः वह कभी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे—उष्णता अग्नि का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का सर्वस्व ही है।

ज्ञान का स्वभाव जानना अर्थात् वस्तु का सर्वांग-प्रतिभासन करना है, क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है, अतः ज्ञान भी जगत् से पूर्ण-निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपना अनादि-अनन्त 'जानने का व्यापार' करता रहता है। अपने जानने के कार्य के सम्पादन-हेतु ज्ञान को जगत् से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता।

दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा एकरूप अखण्ड-स्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) परिणत होता रहता है। **ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) परिणति ज्ञान का विशेष-भाव है और उस ज्ञेयाकार-परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्य-भाव है।** जैसे—दर्पण अपने स्वच्छ-स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिम्बित करता है।

दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं, किन्तु दर्पण प्रत्येक-परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही, उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित होती है, किन्तु दर्पण में अग्नि के प्रतिबिंब से न तो दर्पण टूटता ही है और न गर्म ही होता है; क्योंकि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह साक्षात्-अग्नि नहीं, वरन् वह तो दर्पण की अपनी प्रतिबिम्बरूप अग्नि है। वह दर्पण की अपनी पर्याय है। अतः वस्तुतः वह दर्पण ही है।

दर्पण में प्रतिबिंबित-अग्नि की रचना के नियामक-उपादान दर्पण के अपने स्वतन्त्र हैं। **अपनी अग्नि की रचना में दर्पण ने बाह्य-**

अग्नि से कुछ भी सहयोग नहीं लिया है। यह अग्नि दर्पण की अपनी स्वतन्त्र–सृष्टि एवं संपत्ति है। दर्पण की अग्नि का आकार बाह्य–अग्नि तुल्य होते हुए भी बाह्य–अग्नि इसमें रंचमात्र भी कारण नहीं है। तथा बाह्य–अग्नि जल रही है, इसलिए दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित हो रही है, यह भी नितांत–असत्य है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाये, तो वस्तुओं को प्रतिबिंबित करना दर्पण का स्वभाव नहीं रह जाएगा। दर्पण का स्वभाव अग्नि–सापेक्ष होकर 'स्वभाव' संज्ञा को खो देगा। वस्तुतः दर्पण के स्वच्छ–स्वभाव में यदि अग्न्याकार–परिणमन की शक्ति और योग्यता न हो, तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता। और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति एवं योग्यता है, तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है? **जो शक्ति–शून्य है, उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है, उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। जगत् की कोई भी वस्तु पर–सापेक्ष रहकर अपना अस्तित्व नहीं रख सकती।**

यदि दर्पण में प्रतिबिम्बित–अग्नि का कारण बाह्य–अग्नि है, तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिम्बित होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अपनी अग्नि की रचना की सम्पूर्ण–सामग्री दर्पण के अपने अक्षय–कोष में ही पड़ी है। उसे किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता।

इस चर्चा में ऐसा तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि यदि बाह्य–अग्नि दर्पणाग्नि का कारण नहीं है और दर्पण में उस समय अग्न्याकार–परिणमन की स्वतन्त्र–योग्यता है, तो फिर जब अग्नि न हो, तब भी दर्पण का अग्न्याकार परिणाम होना चाहिए अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य–प्रतिभासन होना चाहिए।

विचित्र-तर्क है यह, जो दर्पण के स्वभाव की स्वतन्त्रता पर एक सीधा-प्रहार है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह वैसी की वैसी दर्पण में प्रतिबिम्बित न हो, तो फिर हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे। वस्तु जैसी हो, वैसी ही प्रतिबिम्बित करे, उसे ही तो 'दर्पण' कहते हैं। पुनः यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण के स्थान पर घट प्रतिबिम्बित हो, तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या कहलायेगी? अतः अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग वही प्रतिबिम्बित होना यही वस्तुस्थिति है और यही वस्तु का स्वभावगत अनादि-निधन-नियम भी है। इसमें पारस्परिक कारण-कार्य-भाव से उत्पन्न किसी परतन्त्रता अथवा सापेक्षता के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है। इसप्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार-अग्नि से सर्वथा-पृथक् तथा निर्लिप्त ही रह जाता है।

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यन्त-निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञायाकार के इस अभाव को ज्ञान का 'अतत्'-स्वभाव कहते हैं और अनेक-ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञानत्व की धारावहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञान-सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनन्त-लोकालोकरूप चित्र-विचित्र-ज्ञेयाकार नियत-समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यंत-स्वतन्त्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है। न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है।

'ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेय

जैसे आकार की रचना ज्ञान की उपादान-सामग्री से होती है। लोकालोकरूप-निमित्त की उसमें रंचमात्र भी कारणता नहीं है। अतः 'ज्ञान लोकालोक को जानता है'—यह कथन व्यवहार ही है, वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतन्त्ररूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है।' जैसे—हम किसी अट्टालिका की कल्पना करते हैं। अट्टालिका तो पाषाण की बनी होती है, किन्तु हमारी कल्पना की अट्टालिका तो हमारी कल्पना से बनी है, पाषाण से नहीं। **इसीप्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार सब ज्ञान की ही सृष्टि हैं और वे ज्ञेय से अत्यन्त-भिन्न ही रहते हैं। तथा जगत् में ज्ञेय हैं, इसलिए ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं—यह तर्क ही भ्रममूलक है, जो ज्ञान की अप्रतिहत-शक्ति की अवहेलना करके ज्ञान के क्लैव्य की घोषणा करता है।**

ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में जानने का यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि ज्ञान का वह कार्य ज्ञेय की कृपा से निष्पन्न हुआ है। यह तो ज्ञान की स्वच्छता या प्रामाणिकता का ही प्रतीक है। जगत् में सदृश्यकार्य तो अनेक होते हैं, किन्तु किसी की कृपा की उनमें कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे हमारे पड़ौसी के घर भात बनाया जाय और हमारे यहाँ भात बनाया जाय, तो हमने पड़ौसी का अनुकरण करके अथवा पड़ौसी से कुछ लेकर तो अपना भात नहीं बनाया, हमारा भात स्वतन्त्ररूप से अपने नियत-समय में हमारी सम्पत्ति से बना है और इसीप्रकार पड़ौसी का भी, दोनों में कोई संबंध ही नहीं बनता। **हाँ, सादृश्य तो दोनों में है, किन्तु संबंध कुछ भी नहीं है।**

इसीप्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिम्बित होता है, तो ज्ञान का घटाकार तो ज्ञान की अपनी शक्ति से अपने नियत-समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी के घट के कारण नहीं; क्योंकि मिट्टी का घट

तो पहले भी विद्यमान था, किन्तु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध-प्रवाह में अपना घट अब बनाया है और इस घटाकार की रचना में ज्ञान ने मृण्मय-घटाकार से नितान्त-पृथक्-ज्ञान का अपने समय का स्वतन्त्र-निरपेक्ष-उत्पादन है। ज्ञान में घटाकार की रचना, ज्ञान के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में नियत-क्षण में ही हुई है। इसके एक क्षण भी आगे-पीछे की कल्पना एकान्त-मिथ्या है।

'ज्ञान के सामने घड़ा है' अतएव घट ही प्रतिबिम्बित हुआ—यह बात तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया, तो लोकालोक तो सदा ही विद्यमान है, केवलज्ञान क्यों नहीं होता ? पुनः यदि पदार्थ ज्ञान का कारण हो, तो फिर सीप के दर्शन से चाँदी की भ्राँति क्यों हो जाती है ? अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश-मशकादि का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है। तथा भूत और भावी-पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं, उनका ज्ञान कैसे हो जाता है ? अतः ज्ञेय से ज्ञान की सर्वांगीण-निरपेक्षता निर्विवाद है।

इस लोक में ज्ञान का ऐसा अद्भुत-स्वभाव है और इस निरपेक्ष, निर्लिप्त, निरावरण ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति एवं अनुभूति भव-विनाशिनी है। **ज्ञानी जानता है कि जिससमय जो ज्ञेय मेरे ज्ञान में प्रतिबिम्बित दीख पड़ता है, वह सब ज्ञान का ही आकार है, वह सब मैं ही हूँ और वह प्रतिबिम्बित मेरा ही स्वभाव है।** ज्ञान का वह आकार ज्ञेय से नितान्त-रीता है। उसमें ज्ञेय का एक अविभाग-प्रतिच्छेद भी प्रविष्ट नहीं है और वह आकार मेरे ज्ञान के नियत-स्वकाल में मेरे ज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है और वही उत्पन्न होने योग्य भी है। अन्य परिणाम को उस समय मेरे ज्ञान के प्रवाह में उत्पन्न होने का अवकाश एवं अधिकार नहीं है। इसमें 'यह क्यों आया और अन्य क्यों नहीं'—यह प्रश्न ही नहीं रहता।

ज्ञान में प्रतिबिम्बित-ज्ञेयाकार के संबंध में जिसको 'क्यों' यह विषमभाव उत्पन्न होता है, वह वस्तुतः ज्ञान के ज्ञेयाकार ज्ञान-स्वभाव और आत्मा का ही अभाव चाहता है। ज्ञान-स्वभाव की यह प्रतीति निर्भयता एवं निःशंकता को जन्म देती है। ज्ञानी इस प्रतीति में सदा ही निश्चिंत है कि मेरी ज्ञान-परिधि में जगत् का प्रवेश ही निषिद्ध है। **अतः अनेकाकार होकर भी ज्ञान निर्मल ही रहता है और वे अनेकाकार भी ज्ञान ही के विशेष होने के कारण ज्ञान ही हैं।** ज्ञान के ये विशेष किसी व्यवस्था की वस्तु नहीं, किन्तु सहज ही अपने नियत-समय में ज्ञान-सामान्य में से उत्पन्न हो रहते हैं, अतः ज्ञानी इन विशेषों का भी तिरोभाव करके त्रैकालिक ज्ञान-सामान्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और निरन्तर शुद्ध-ज्ञान अर्थात् शुद्धात्मा ही उसकी अनुभूति में अवतीर्ण होता है।

इसके विपरीत अज्ञानी सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भाँति से उद्वेलित रहता है। उसे ऐसा लगता है कि ये इन्द्रियों के विषय मेरे भीतर ही चले आ रहे हैं। वस्तुतः तो **इन्द्रिय-विषय ज्ञान में प्रतिबिम्बित-मात्र होते हैं। ज्ञान के प्रतिबिम्ब को अज्ञानी साक्षात्-ज्ञेय ही समझता है। अतः उसे सदा ज्ञेय-मिश्रज्ञान की अशुद्ध-अनुभूति ही होती है।** श्री 'समयसार' परमागम की 15वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्र इसका अत्यन्त मार्मिक चित्रांकन करते हैं—

"अनेकप्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध-जीवों के स्वाद में आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग-रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव

में आनेवाला एकाकार अभेदरूप, ज्ञान स्वाद में नहीं आता। और परमार्थ से विचार किया जावे, तो जो ज्ञान-विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान-सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध-ज्ञानियों को तो जैसे सेंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सेंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक क्षार-रसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवछेद करके केवल आत्मा का अनुभव किया जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।''

वस्तुतः ज्ञान-सामान्य की विस्मृति कर देने पर ज्ञान के अनेकाकार की सृष्टि न बनकर ज्ञेय की सृष्टि बन जाती है और शाक तथा लवण के मिश्रण की भाँति अज्ञानी को सदा ही 'यह देह मैं ही हूँ' 'यह ज्वर मुझे ही है'—ऐसा मिश्र-स्वाद आता है। किन्तु ज्ञानी को तो सदा ही ज्ञान-सामान्य की ही स्मृति है। मेरा ज्ञान ज्वर तथा देहाकार परिणत होने पर भी 'मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ।' ज्ञान को देह नहीं और ज्ञान को कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं; अतः ज्ञान के ज्वराकार और देहाकार-परिणाम भी ज्ञानी को द्रष्टव्य नहीं।

इसमें यह तर्क भी अपेक्षित नहीं कि यदि निरन्तर ज्ञान-सामान्य की ही दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा? **वस्तुतः ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय-निरपेक्ष रहकर अनेकाकार-परिणत होता रहता है।** किसी प्रबन्ध के बिना ही वे अनेकाकार-ज्ञान में होते रहते हैं। जैसे हमारे घर में झूलते हुए दर्पण में पड़ौस के मकान, मनुष्य आदि सहज मौन-भाव से प्रतिबिम्बित होते रहते हैं, हम उनकी व्यवस्था नहीं करते और दर्पण के वे खण्ड-भाव (प्रतिबिम्ब) हमारे प्रयोजन की वस्तु भी

नहीं होते। यद्यपि वे हमारे जानने में अवश्य आते हैं, किन्तु हमारी अविरल-दृष्टि तो अपने अखण्ड-दर्पण पर ही केन्द्रित रहती है। यदि हमारी दृष्टि उन खण्ड-भावों और प्रतिबिम्बों पर केन्द्रित हो जाए और हम दर्पण की अखण्डता को विस्मृत कर दें, तो हमें लगेगा कि हमारे दर्पण में तो कोई मनुष्य अथवा मकान प्रविष्ट हो गया। अतः हम विह्वल हो उठेंगे, किन्तु इन अनेकाकारों में भी दर्पण तो ज्यों का त्यों विद्यमान है, यह दृष्टि और प्रतीति निराकुलता को जन्म देती है।

अज्ञानी मानता है 'मुझे धन मिला', किन्तु वस्तुतः अज्ञानी के ज्ञान को भी धन का एक आकारमात्र मिला है, धन तो मिला नहीं है। अज्ञानी धन मिलने की कल्पना से ही हर्षित होता रहता है। इसीप्रकार अग्नि के संयोग में अज्ञानी मानता है "मैं जल रहा हूँ", किन्तु वस्तुतः अग्नि-ज्वाला ज्ञान में प्रतिबिम्बित मात्र हो रही है, ज्ञान तो जल नहीं रहा है। यदि अग्नि से ज्ञान जलने लगे, तो अग्नि की उष्णता को कौन जानेगा ? किन्तु अज्ञानी 'मैं जल रहा हूँ'—इस कल्पना से ही विह्वल हो उठता है। वस्तुतः ज्ञान को ज्ञेय से कुछ भी तो नहीं मिलता है। वह तो अपने उन ज्ञेयाकारों में भी उतना का उतना ही रहता है।

हमारे दर्पण में प्रतिबिम्बित किसी अट्टालिका से हम अपने को लाभान्वित तो नहीं मानते और उस अट्टालिका के दर्पण से ओझल हो जाने पर शोकान्वित भी कहाँ होते हैं। इस परिस्थिति में हर्ष या शोक तो किसी बालक का ही कार्य हो सकता है, किन्तु यह दृष्टि तो हमें निरन्तर ही वर्तती है। हमारे घर में स्वच्छ-दर्पण झूल रहा है और हम यह भी जानते हैं कि उस दर्पण में जगत् के अनेक-पदार्थ भी प्रतिबिम्बित होते हैं; किन्तु हमारे दर्पण में क्या-क्या प्रतिबिम्बित होता है, यह हमारी दृष्टि का विषय नहीं होता, वरन् उन प्रतिबिम्बों के प्रति सदा

हमारा उदासीन-भाव ही प्रवर्तित होता है, जो भी प्रतिबिम्बित होता है, वह दर्पण का स्वभाव ही है। दर्पण के स्वच्छ-स्वभाव का विश्वास हमें यह विकल्प ही नहीं उत्पन्न होने देता कि 'उसमें क्या-क्या प्रतिबिम्बित होता है ?' क्योंकि वह हमारे विकल्प अथवा व्यवस्था का विषय न होकर दर्पण का अकृत्रिम-स्वभाव ही है। उसमें जो भी प्रतिबिम्बित होता है, सब व्यवस्थित ही है; व्यवस्था-योग्य नहीं तथा वे प्रतिबिम्ब ममता करने योग्य भी नहीं; क्योंकि उन प्रतिबिम्बों की ममता क्लेशकारिणी है। दर्पण में उन प्रतिबिम्बों के आगमन पर ज्यों ही हम हर्षित होंगे, दर्पण से उनका विलय हमें शोक-सागर में निमग्न कर देगा।

अतः दर्पण-विशेष की दृष्टि से उत्पन्न कल्पित हर्ष-शोक का अन्त दर्पण-सामान्य की दृष्टि से ही सम्भव है, अन्य कोई पथ नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित अनेक ज्ञेयाकाररूप-ज्ञान के विशेषों में यद्यपि ज्ञान-सामान्य की ही व्याप्ति है, ज्ञेय की व्याप्ति नहीं; किन्तु ज्ञान के वे विशेष वास्तव में आत्मा के लिए जाननेमात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन की वस्तु नहीं है।

ज्ञान में वे स्वतः ही सहजभाव से निर्मित होते रहते हैं, यथा-ज्ञान में जो घट परिणत हुआ, वह घटाकार स्वयं ज्ञान ही है, किन्तु आत्मा उस घटाकार ज्ञान का क्या करे ? अतः निरन्तर 'मैं तो ज्ञान ही हूँ, घट नहीं' यह सामान्य की दृष्टि एवं अनुभूति ही शांति-प्रदायिनी है।

ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति अनन्त-प्रश्नों, अगणित घटना-चक्रों तथा असंख्य-परिस्थितियों का एकमात्र-समाधान है। उस दृष्टि में शुद्ध, अखण्ड, एकरूप-ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा में कुछ

भासित ही नहीं होता। 'मैं तो ज्ञान का ध्रुव-तारा हूँ'–इसमें आत्मा के साथ देह, कर्म और राग का संबंध भी कहाँ रहा? राग तो आत्मा और कर्म की संयोगी-दृष्टि में भासित होता है। जैसे जल को कीच के साथ देखने पर मलिनता अनुभव में आती है, किन्तु शुद्ध जल-स्वभाव के समीप जाकर देखें तो जल में कीच कहाँ है। जल तो कीच के साथ भी जल ही है। इसप्रकार कर्म और आत्मा की संयोगी-दृष्टि में आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप दृष्टिगत होते हैं; किन्तु शुद्ध ज्ञान-स्वभाव की समीपता में ज्ञान में न राग है, न द्वेष है, न पुण्य है, न पाप है, न देह है और न मन वाणी हैं। कर्म और देह के विविध अप्रत्याशित-परिणाम ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाते।

प्रलयकाल के भयंकर-प्लावन के बीच ज्ञान तो अनुभव करता है कि 'मेरे ज्ञान में प्रलय नहीं हुआ है। मैं तो प्रलय का भी ज्ञाता ही हूँ।' प्रलय के द्रव्य ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं, किन्तु ज्ञान प्रलयाकार होने पर भी ज्ञान में प्रलय का प्रवेश नहीं होता। जैसे सागर को समर्पित पुष्पहार अथवा प्रहार सागर के वक्ष में चित्रित-मात्र ही रह जाते हैं और सागर 'रोष' अथवा 'तोष' की विषम-अनुभूतियों से शून्य एकरूप ही रहता है। इसीप्रकार विश्व का सर्वस्व ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर भी ज्ञानी उस सम्पूर्ण-विशेषों का तिरोभाव करके 'मैं त्रिकाल ज्ञान ही हूँ' विश्व नहीं–इस शुद्ध-ज्ञान का ही चिरतंन-संचेतन करता है।

जगत् की भयंकर-प्रतिकूलताओं और सप्तम-नरक की यातनाओं में भी ज्ञानी को शुद्ध-ज्ञान का यह संचेतन अबाधित रहता है। जब ज्ञान को देह नहीं, तब प्रतिकूलता का अस्तित्व ज्ञानी की दुनियाँ में ही कहाँ रहा? प्रतिकूलता और नरक की

यातना का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं है, तब प्रतिकूलता और यातना ज्ञान को कैसी ? इसप्रकार ज्ञान के वज्र-कपाटों का भेदन करके कोई ज्ञान-स्वभाव में प्रविष्ट ही नहीं हो पता। अतः ज्ञान त्रिकाल-शुद्ध, एकरूप ही रहता है। इसी ज्ञान के शुद्ध-एकत्व में प्रतिष्ठित होकर ज्ञानी शुद्ध-अनुभूति के बल से निरन्तर कर्मों का क्षय करता हुआ मुक्ति के पावन-पथ पर बढ़ता चलता है और अन्त में मुक्ति उसका वरण कर लेती है।

वस्तुतः ज्ञानी को मुक्ति की भी चाह नहीं है, ज्ञान तो त्रिकाल-मुक्त ही है। उसे नई-मुक्ति अथवा सिद्ध-दशा की भी अपेक्षा नहीं है। ज्ञान तो जगत् के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सदा ही मुक्त पड़ा है। ज्ञान तो नरक में भी मुक्त ही है। वह सदा ज्ञायक ही तो है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कल्पना उसके प्रति व्यर्थ है। उसे आस्रव और बंध भी नहीं है, फलतः संवर, निर्जरा और मोक्ष भी उसे नहीं है; क्योंकि जो पहिले बँधा हो, उसी के तो छूटने का प्रसंग बन सकता है। जो कभी बँधा ही नहीं, उसकी मुक्ति की वार्ता ही व्यर्थ है। लोक की हर परिस्थिति में 'मैं तो ज्ञान ही हूँ'— यह दृष्टि तथा ज्ञान का यह शुद्ध-संचेतन भव के कपाटों का भेदन करके मुक्ति के पावन-द्वार का उद्घाटन करता है। यही दृष्टि लोक-मांगल्य की अधिष्ठात्री है, जिसमें पर्याय-दृष्टि के सम्पूर्ण-क्लेश का अन्त हो जाता है।

विषमतम-परिस्थिति में भी आनन्द के मुक्ता बिखेरकर भवप्रसूत चिर-दरिद्रता का अन्त करके शान्ति का कोष खोल देने वाली शुद्ध-ज्ञान की यह प्रतीति एवं अनुभूति चिर-जयवन्त वर्ते, चिर-जयवन्त वर्ते।

❀❀❀

महावीर का अनैकान्तिक अहिंसा-दर्शन

अहिंसा जीवन का शोधक-तत्त्व है। अहिंसा का सीधा-संबंध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार-कर्म है। आत्मा ही उसका साधकतम-करण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिए ही होता है, उसके फल का उपभोक्ता भी आत्मा ही है। वह आत्मा के अंतरंग-बंधनों को तोड़कर जीवन के विकास का पथ प्रशस्त करती है। वास्तव में बहिर्जगत् से उसका कोई तात्त्विक-संबंध नहीं।

इस अहिंसा के साथ महावीर का नाम छाया और शरीर की भाँति जुड़ा हुआ है। वास्तव में महावीर ने मौलिक-वस्तुस्वरूप के आधार पर अहिंसा का जो अनैकान्तिक-स्वरूप जगत् के समक्ष रखा, जगत् को उनकी वह देन अद्भुत एवं अद्वितीय है। महावीर का अहिंसा-दर्शन एक सर्वांगीण जीवन-दर्शन है। वह जीवन को जहाँ से उठाता है, उसे विकास के चरम-बिन्दु पर ले जाकर रख देता है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती-उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जिओ और जीने दो' की संकुचित-सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है, वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत् से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिए अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल

दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल-प्रयास तक ही सीमित रह गया है। कोई प्राणी बच गया है, उसका सम्पूर्ण-श्रेय अहंकार के शिखर पर चढ़ा आज का अहिंसक अपने ऊपर लेकर पुण्य-संचय से मन में परम-सन्तुष्ट होता हुआ स्वर्ग के कृत्रिम-सुखों की कल्पनाओं से मन ही मन पुलकित होता रहता है। दूसरे प्राणी को बचाने के विफल-प्रयास मूलक अहंकार-गर्भित अहिंसा का यह रूप महावीर के दर्शन में हिंसा ही घोषित किया गया है।

अहिंसा के मूलाधार आत्मा का यदि हम भारतीय-दर्शनों की कसौटी पर परीक्षण करें, तो हमें ज्ञात होगा कि लगभग सभी भारतीय-दर्शनों ने एकस्वर से आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है। वहाँ हमें सुनने को मिलता है कि आत्मा अजर है, अमर है, वह शस्त्रों से भी नहीं छिदता, अग्नि में नहीं जलता इत्यादि। एक ओर तो हमें आत्मा की अमरता के ये गीत सुनाई देते हैं और दूसरी ओर हम 'जियो और जीने दो' का राग भी अलापते चलते हैं। यदि आत्मा स्वभाव से अमर है, तो फिर एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी के वध और रक्षा की कल्पना भी कैसी। हाँ, आत्मा अमर होते हुए भी उसके वध और रक्षा का अज्ञान वस्तुस्थिति के अविवेक से उत्पन्न तो हो सकता है; किन्तु इस अज्ञान के साथ आत्मा के वध और रक्षा जैसी अघट-घटनायें भी घटने लगें- यह असम्भव है अथवा नीचे की भूमिका में ज्ञानी को भी ऐसा राग आता है, किन्तु आत्मा के वध और रक्षा की व्यवहार-नयात्मक-शैली में निहित-अपेक्षाओं को समझे बिना आत्मा के वध और रक्षा का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाये, तो आत्मा की अमरता का सिद्धान्त काल्पनिक ही रह जायेगा।

महावीर ने अहिंसा का जो भव्य-स्वरूप विश्व को दिया, वह

अनेकांत से अनुशासित होने के कारण अपने में इतना परिपूर्ण है कि दूसरे जीव को बचानेरूप स्थूल लौकिक–अहिंसा तो उसमें सहज ही पालित होती चलती है। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर 'चूँकि जीव मरता ही नहीं है'–इस सिद्धान्त से छल–ग्रहण करके हिंसावृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए वहाँ रंच भी अवकाश नहीं है, किन्तु चूँकि जीव मरता ही नहीं है, अतः जीव को मारने के भ्रम की विफलता शांत हो जाने पर वध और रक्षामूलक–अहंकार तो समाप्त हो ही जाता है, साथ ही शनैःशनैः हिंसावृत्तियों का भी शमन होने लगता है। फलस्वरूप आत्म–पौरुष का उपयोग एवं प्रयोग केवल आत्म–विकास के लिए ही होने लगता है।

महावीर के अनैकान्तिक–शासन में चेतन एवं जड़ सभी की अपनी–अपनी स्वतन्त्र–सत्ता है। सभी पदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त–पृथक् रहकर अपने गर्भ में विद्यमान अनंत–शक्तियों के बल पर ही अपना जीवन संचालित करते रहते हैं। प्रत्येक जड़–चेतन पदार्थ की काया परस्पर–विरुद्ध अनंत धर्मों से निर्मित है। ये परस्पर–विरुद्ध धर्म उस वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा करते हैं। 'समयसार' परमागम की तीसरी गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने वस्तु के इस अनैकांतिक–स्वभाव की महिमा के गीत इस–प्रकार गाये हैं–

एयत्त–णिच्छय–गदो, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि।।

"एकत्व–निश्चय को प्राप्त समय लोक में सर्वत्र सुन्दर है। इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद–विरोध करनेवाली है।"

टीका – लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं, वे सब निश्चिय से एकत्व–निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को प्राप्त होते हैं। वे

सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तगर्मग्न रहनेवाले अपने अनंत-धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप-परिणमन न करने से अपनी अनन्त-व्यक्ति नष्ट नहीं होती; इसलिए जो टंकोत्कीर्ण की भाँति स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध-कार्य तथा अविरुद्ध-कार्य दोनों की हेतुता से वे विश्व का सदा उपकार करते हैं, टिकाये रखते हैं। इसप्रकार सर्व-पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने से 'जीव' नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति आती है।

वस्तु के अनैकान्तिक-स्वरूप में परस्पर-विरुद्ध दो पहलू स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। एक उसका वह पहलू है, जिसके कारण जो कुछ उसका अपना है, उसी में रहता है। वह पदार्थ अपने द्रव्य (त्रैकालिकता) अपने क्षेत्र (प्रदेश) अपने काल (क्षणिकपर्याय) और अपने भाव (अनन्त शक्तियाँ) की चतुःसीमा में ही विद्यमान रहता है। इसे वस्तु का 'अस्ति' धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध उसका एक दूसरा पहलू है, जिसके कारण उसकी चतुःसीमा (चतुष्ट) में उससे भिन्न सम्पूर्ण-विश्व का प्रवेश निषिद्ध है। इसे पदार्थ का 'नास्ति' धर्म कहते हैं। इसप्रकार पदार्थ स्वयं ही अनेकांत है। इन्हीं विशेषताओं के कारण चेतन सदा चेतन रहता है और जड़ सदा जड़ ही रहता है। सभी प्रतिसमय स्वतन्त्र, कोई एक-दूसरे के कार्य का कर्त्ता नहीं है। जड़ सदा अपना काम करता है और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन को लाभ-हानि नहीं करता। चेतन कभी जड़ के कार्य का कर्त्ता तथा कारण नहीं बनता और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन के कार्य का कर्त्ता तथा कारण नहीं बनता। चेतन तथा जड़ सभी पदार्थ अपने में विद्यमान

अनित्य–धर्म के कारण सदा स्वतः प्रतिक्षण अपनी अवस्थाओं में परिर्वन किया करते हैं। यही वस्तु की मर्यादा है। अपनी इस मर्यादा में विद्यमान–पदार्थ को अपने अनादि–अनन्त जीवन में अन्य अनन्त–पदार्थों का संयोग भी होता है और वियोग भी, किन्तु वह समस्त संयोग–वियोग वस्तु की सीमा के बाहर ही होता है। वस्तु में प्रति–समय उत्पन्न होनेवाले कार्यों में अनन्त–पदार्थ निमित्त भी बनते हैं; किन्तु वे भी वस्तु की सीमा के बाहर ही रहते हैं। वस्तु के कार्य–क्षेत्र में उनका प्रवेश नहीं होता। यह जैनदर्शन में अनेकान्त की स्थिति है, जिसके कारण सारा अनन्त विश्व अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहता हुआ अनन्त–सौन्दर्य को प्राप्त होता है।

पदार्थ एक ही समय में स्व–अपेक्षा 'अस्तिरूप' तथा पर–अपेक्षा 'नास्तिरूप' ही है। इसप्रकार वह स्वयं अस्तिरूप भी है और अपने में पर के अभाव के कारण वही नास्तिरूप भी है। वह द्रव्य–अपेक्षा नित्य ही है। क्योंकि पदार्थ के संबंध में 'यह वही है, जो पहले देखा था' इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञानात्मक–प्रतीति उसकी नित्यता को घोषित करती है। तथा पदार्थ पर्याय–अपेक्षा अनित्य ही है, क्योंकि उसका रूपांतर प्रतिसमय भासित होता है। इसप्रकार वह एक ही समय में नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्य अपेक्षा भी नित्य हो और पर्याय अपेक्षा भी नित्य हो अथवा वह द्रव्य अपेक्षा नित्य भी हो और अनित्य भी ऐसा नहीं है। एक जीव स्व–अपेक्षा से भी जीव हो और अन्य–जीव तथा जड़ की अपेक्षा भी जीव हो अथवा वह जीव भी हो और अजीव भी हो अथवा वह स्वकार्य भी करता हो और परकार्य भी; अनेकान्त में 'भी' को ऐसा गलत–प्रयोग नहीं होता। उसमें वस्तु–स्वभाव के विरुद्ध कोई कल्पना नहीं होती। यदि कर्त्ता कोई एक पदार्थ हो, उसका कार्य

किसी दूसरे पदार्थ में हो और कारण कोई तीसरा पदार्थ हो तो तीनों में से कार्य के फल का उपयोग कौन करेगा? यह बड़ी दुविधा उत्पन्न हो जायेगी। अतः एक-पदार्थ अभिन्न-भाव से स्व का कर्त्ता, कर्म, करण है—ऐसा अस्तिमूलक-भाव तथा वह पर का कर्त्ता, कर्म, करण नहीं है—ऐसा नास्तिमूलक भाव 'अनेकान्त' है।

कर्त्ता, कर्म, करण, अभिन्न एक ही वस्तु में होते हैं—ऐसा अबाधित-नियम है। अतः भिन्न-पदार्थों में यदि परस्पर कर्त्ता, कर्म, करणत्व की संभावना की जाये, तो उनके ऐक्य का प्रसंग उपस्थित होगा और यही एकांत है; क्योंकि दो पदार्थ कभी एक-दूसरे में अपनी सत्ता का विलय करके एक होते नहीं हैं। यदि ऐसा होने लगे तो विश्व का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। अतः ऐसे एकांत की कल्पना सर्वथा-मिथ्या है। पदार्थों के परस्पर आत्यांतिक-पृथकत्व के कारण जड़-चेतन, चेतन-चेतन, तथा जड़-जड़ में कभी कर्त्ता-कर्म तथा कारण-कार्य-भाव बनता ही नहीं है। इसप्रकार एक ही पदार्थ में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् आदि परस्पर-विरुद्ध अनन्त सापेक्ष-धर्म विद्यमान रहते हैं, जिन्हें 'अनेकान्त' कहते हैं, और यह अनेकान्त वस्तुस्वभाव है। पदार्थ में अनन्त-शक्ति की विद्यमानता अन्य-दर्शन भी स्वीकार करते हैं; किन्तु जो वस्तु के वस्तुत्व के नियामक हैं, उन परस्पर-विरुद्ध अनन्त सापेक्ष-धर्मों की एक ही वस्तु में विद्यमानता केवल जैनदर्शन ही स्वीकार करता है। इसप्रकार जैनदर्शन का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान-प्रासाद अनेकान्त की ठोस आधार-शिला पर खड़ा हुआ है।

अनेकान्त की इस कसौटी पर यदि हम हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करके देखें, तो हमें विदित होगा कि जब एक जीव सम्पूर्ण जड़-चेतन विश्व से भिन्न अपने स्वरूप में ही सदा प्रतिष्ठित रहता है और नित्य

ध्रुव रहकर प्रतिक्षण अपना विकारी अथवा निर्विकारी उत्पाद–व्यय स्वयं ही निरपेक्ष भाव से किया करता है, तो एक जीव हिंसक और दूसरा हिंस्य—इसप्रकार का द्वैत ही उत्पन्न नहीं होता। जीव का प्रतिसमय का उत्पाद–व्यय ही उसका जीवन–मरण है, जो वस्तुस्वभाव है। इस उत्पाद–व्यय की सरिता में जीव प्रतिसमय उन्मग्न–निमग्न हुआ करता है, यही उसका व्यापार है। तब फिर कौन किस समय किसकी हिंसा अथवा रक्षा करें? यदि एक जीव के जीवन और मरण को किसी अन्य जड़ अथवा चेतन–पदार्थ का अधिकार स्वीकार कर लिया जाये तो फिर किसी जीव के वध के सहस्त्र प्रयत्न करने पर भी उसका वध शक्य क्यों नहीं होता और किसी जीव की रक्षा के लक्ष–लक्ष प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं?

इसप्रकार एक जीव तथा अन्य जड़–चेतन पदार्थों में परस्पर वध्य–घातकभाव असिद्ध होने पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि लोक में जीव को मारने और बचाने का जो अनादि–व्यवहार प्रचलित है, क्या वह सर्वथा असत् है? यदि अनेकान्त–प्रकाश में वस्तुस्थिति का अवलोकन किया जाये तो यह निर्विवाद है कि वस्तुस्थिति का इस लोक–व्यवहार से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि कोई जीव अपने चतुष्टय की चतुःसीमा से बाहर कभी निकला ही नहीं है। जिसे हम व्यवहार में 'हिंसक' कहते हैं, वह भी सदा अपनी सीमा में विद्यमान है और जिसे हम 'हिंस्य' कहते हैं, वह भी अपनी सीमा कभी छोड़ता नहीं है। दोनों स्व–कार्य निरत है। जिसे हम 'हिंसक' कहते हैं, वह हिंसा के विकल्परूप अपने विकारी–कृत्य में निरत है तथा जिसे हम 'हिंस्य' कहते हैं वह अपनी अवस्था के वर्तमान–आकार का परित्याग करके दूसरे आकार को प्राप्त करने जा रहा है। अतः वध और

रक्षा का व्यवहार वास्तविक नहीं, वरन् औपचारिक ही है। 'भगवान् की कृपा से मुक्ति मिली' तथा 'गुरु के प्रसाद से ज्ञान मिला'—आदि निमित्त की मुख्यता से अगणित उपचार होते हैं; किन्तु वस्तुस्थिति इस कथन के अनुकूल नहीं होती। भगवान् की वीतरागता में कृपा के लिए कोई अवकाश नहीं है। हाँ, प्रत्येक प्राणी उनकी वीतरागता से अपनी पात्रता के अनुकूल प्रेरणा ले सकता है, यही उनका निमित्तत्व है और इसी को व्यवहार में उनकी 'कृपा' कहते हैं। इसीप्रकार गुरु के द्वारा प्रतिपादित-तत्त्व को सम्पादित किये बिना गुरु का प्रसाद भी कुछ नहीं है। इस-प्रकार के कथन में विद्यमान अनुकूल-निमित्त को कार्य के कर्तृत्व का श्रेय देते हुए भी उसी के साथ परिणत उपादान को ही कार्य के कर्तृत्व का सम्पूर्ण-श्रेय है, क्योंकि कार्य उपादान में उसकी स्वशक्ति से ही निष्पन्न होता है।

वस्तु की इस अंतरंग (उपादान) एवं बहिरंग (संयोगी)-स्थिति को जानने एवं प्रस्तुत करने की दो पद्धतियाँ लोक एवं आगम-सम्मत हैं। जो वस्तु की अंतरंग-स्थिति को निरपेक्षरूप में प्रस्तुत करती है, उस शैली को 'निश्चयनय' कहते हैं और जो वस्तु के बाह्य-वातावरण के अध्ययन द्वारा वस्तु का प्रतिपादन करती है, उस शैली को 'व्यवहार नय' कहते हैं। इन दोनों नयों के प्रकाश में यदि हम हिंसा-अहिंसा की समीक्षा करें, तो 'एक जीव दूसरे जीव का वध अथवा रक्षा करता है'—इस निमित्त-सापेक्ष कथन में निश्चयनय का यह स्वरूप तो अविकल ही रहता है कि कोई जीव किसी के प्राणों का अपहरण अथवा रक्षा नहीं कर सकता। किन्तु जब कोई प्राणी आयु-परिवर्तन के क्षण को प्राप्त होकर स्वयं ही अन्य-गति के प्रति गमन करता है, तब सहज विद्यमान अनुकूल चतुर्दिक्-वातावरण पर उसके मरण के कर्तृत्व का उपचार

किया जाता है। यह 'व्यवहारनय' की औपचारिक-शैली है, जो वस्तु की बहिरंग- स्थिति के द्वारा वस्तु को प्रस्तुत करती है। इसप्रकार लोक में वध एवं रक्षा के रूप में हिंसा-अहिंसा का जो व्यवहार प्रचलित है, वह वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है।

इस सम्पूर्ण-विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई किसी का वध नहीं कर सकता और किसी प्राणी की किसी के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती। तब प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो क्या जगत् में हिंसा-अहिंसा नाम की कोई चीज ही नहीं है ? - इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें हिंसा-अहिंसा के स्वरूप पर विचार करना होगा। वास्तव में हिंसा-अहिंसा आत्मा की पर्यायें हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाये और उसके निमित्त से उस प्राणी की वर्तमान-पर्याय का अन्त हो जाये अर्थात् मरण हो जाये तो पत्थर को हिंसा नहीं होती; किन्तु कोई जीव किसी के वध का विकल्प करे, तो उसे अवश्य हिंसा होती है। अतः हिंसा-अहिंसा चेतन की विकारी तथा निर्विकारी-दशायें हैं, जिन्हें आत्मा अपने में स्वाधीनता से उनको उत्पन्न करता है। हिंसा का लक्षण 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं' कहा है। प्रमत्तयोगरूप-कर्म आत्मा के शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप भावप्राण का व्यपरोपण अर्थात् विकृति करता है और यह विकृति ही हिंसा है। प्रमत्त-योग आत्मा का विकारी-कर्म है, अतः वह प्रमत्त-योगरूप-कर्म आत्मा के शुद्ध-चैतन्यस्वरूप भावप्राण का व्यपरोपण अर्थात् विकृति करता है और यह विकृति ही हिंसा है। प्रमत्त-योग आत्मा का ही विकारी-कर्म है, अतः उस प्रमत्तयोगरूप विकारी-कर्म का फल प्राणव्यपरोपण भी आत्मा में ही होता है। प्रमत्तयोगरूप अपराध एक आत्मा करे और उसका फल प्राण-व्यपरोपण

कोई दूसरा प्राणी भोगे—यह अनर्थ लोक में भी सह्य नहीं होता। अतः परप्राण-व्यपरोपण सर्वथा अशक्त होने पर भी किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के अहं अथवा विकल्प से अकर्त्ता तथा अकृत्-आत्मतत्त्व की सुन्दर-कृति (स्वरूप) की विकृति होने के कारण यह अहं तथा विकल्प उस पवित्र अकर्ता-आत्मतत्त्व का विरोधी होने के कारण हिंसा है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने भी पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में "**अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति**" अर्थात् रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा और उनकी उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है, अतएव चित्-विकार का अविनाभाव होने के कारण वे सब हिंसा की ही पर्यायें हैं। किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के विकल्प को अर्थक्रियाकारित्व प्रदान कर सकना जीव के अधिकार-क्षेत्र के बाहर होने के कारण वह विकल्प अशक्यानुष्ठान है। अतएव किसी प्राणी के वध एवं रक्षा का 'अहं' छोड़कर विज्ञ-पुरुष सभीप्रकार के विकल्पों से अतीत अपने शुद्ध अकर्ता-स्वरूप में ही विश्राम करना श्रेयस्कर समझते हैं, और यही शुद्ध-आत्मव्यवहार है।

अहिंसा का यह स्वरूप स्थिर हो जाने पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी प्राणी का वध तो हिंसा है ही; किन्तु यदि उसकी रक्षा का विचार भी हिंसा है, तो फिर दूसरे प्राणी की रक्षा का भद्र-विचार और व्यवहार भी छोड़ देना चाहिए। इसका समाधान यह है कि दोनों-प्रकार के विकल-विकल्पों का परिणाम करके वधमूलक अशुभ-विचार में प्रवृत्ति करना तो युक्त नहीं है। जैसे औषधि अनुपादेय होने पर भी उसे छोड़कर रोग में प्रवृत्ति करना अच्छा नहीं होता। हाँ, आरोग्यलाभ के अवसर में औषधि का परित्याग अवश्य उपादेय होता है। अतः 'विषस्य विषमौषधम्' के समान वध-मूलक अशुभ-विचार

तथा अशुभाचाररूप हिंसा से बचने के लिए रक्षामूलक शुभ-विचार तथा शुभाचार का निर्बल-दशा में अंगीकार होता है पर यह अंगीकार अनुपादेय-दृष्टिपूर्वक छोड़ने के लिए ही होता है।

लोक में आज हिंसा व अहिंसा-स्वरूप केवल बाह्यचार में संकुचित हो गया है। उसके मूलाधार आत्मा के परिणाम से मानो उसका संबंध ही टूट गया है। यह अविवेक की पराकाष्ठा है, जो लोक में अनाचार को प्रोत्साहित करती है। मन में चाहे कितने ही निंद्य पापमय-विचार उत्पन्न हों, किन्तु यदि उनके साथ किसी प्राणी की पीड़ा नहीं हुई, तो वह हिंसा नहीं मानी जाती। किन्तु यह अविवेक न केवल जैनदर्शन, वरन् समग्र भारतीय-दर्शन को भी सम्मत नहीं है। किसी व्यक्ति को हमारे मायाचार का पता न लगे और वह प्रपीड़ित न हो, तो हम हिंसक ही नहीं है। कोई व्यक्ति परिस्थिति की विवशता में अपनी वस्तु हमें अर्द्धमूल्य में प्रस्तावित करे, तो अर्द्धमूल्य में उसके क्रय जैसा निर्दय-कृत्य करके भी हम अहिंसक ही बने रहते हैं। यदि परप्राण-परिपीड़न तक ही हिंसा सीमित हो, तो मुनि के गले में सर्प डालकर श्रेणिक सातवें नरक का कर्म क्यों उपार्जित करतें? मुनि को तो इस कृत्य से कोई पीड़ा नहीं हुई थी। किसी के पैर का काँटा निकालने अथवा शल्य-क्रिया करने में शरीररूप द्रव्य-प्राण का छेद भी होता है और उसके भाव प्राणों का पीड़न भी होता है, पर शल्यकर्ता हिंसक तो नहीं कहलाते। किसी अंधे को पत्थर मारने पर यदि उसके नेत्र खुल जायें, तो पत्थर मारनेवाला अहिंसक तो नहीं कहा जाता है। न केवल चेतन, वरन् किसी जड़-आकृति पर भी रोष की उत्पत्ति में हिंसा अनिवार्य है। आज आत्म-परिणामशून्य कुछ निश्चित शुभाचार नित्य करके हम 'धर्मात्मा' का ताज अपने शीश पर पहिन लेने का दंभ करते हैं; किन्तु

यह विस्मरणीय नहीं है कि जिस आचार के साथ विचार की तद्रूपता नहीं है उसके फल में हमें शुभत्व की आशा नहीं करनी चाहिए, वरन् वहाँ अशुभ फल की ही संभावनायें अधिक होती हैं। अतः जीवन को मुक्ति के प्रशस्त-पथ पर अग्रसर करने के लिए यह अनिवार्य है कि आत्मा में जगत् की अकर्त्ता तथा अकृत-स्थिति के प्रति अविश्वासरूप महाबंध का अंत हो तथा उसमें विवेक और सदाचार का उदय हो। लोक में पारस्परिक दंभ, द्वेष और घृणा का उन्मूलन करने के लिए भी आवश्यक है कि हम अपने में सन्तुष्ट होकर अपनी वासनायें घटायें और परिग्रह की संचय-वृत्ति घटाकर सभी प्राणियों को अपने स्वत्व की उपलब्धि का अवसर दें।

प्रमत्तयोग-पूर्वक चित्त-विकार के अभाव के रूप में अहिंसा का स्वरूप हृदयंगम कर लेने पर विश्वास के स्वचालित क्रमबद्ध जीवन-प्रवाह पर अपना स्वत्व स्थापित कर उसमें पद-पद पर हस्तक्षेप करके उस प्रवाह-क्रम को बदल देने के मिथ्या-अहंरूप महापाप का तो अंतिम-संस्कार हो ही जाता है साथ ही जागृत एवं गतिमान-पुरुषार्थ से जीवन की रही-सही दुर्बलताएँ भौतिक-अपेक्षायें भी अतीत होती जाती हैं और जीवन निरपेक्षता की उच्चतर-भूमिकाओं पर आरोहण करता हुआ अंत में पूर्ण-निरपेक्ष अथवा मुक्त बन जाता है। जीवन की उच्चतम-निरपेक्षता को 'सिद्ध' अथवा 'परमात्मा' कहते हैं और यह परम-निराकुल निर्विकार-स्थिति ही अहिंसा का अमृत-फल है।

यही महावीर की अहिंसा का अनैकान्तिक-दर्शन है और यह महावीर के दर्शन की अनैकान्तिक अहिंसा है।

❀❀❀

अपरिग्रह : एक अनुचिंतन

'परिग्रह' का लक्षण–'परि' अर्थात् 'चारों ओर से' 'ग्रह' माने 'ग्रहण करना'। तीन-लोक के प्रति जो ममता है, वह परिग्रह है। अर्थात् भिन्न-पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रति आत्मा का जो अज्ञानमूलक-स्वामित्व है, उसे 'परिग्रह' कहते हैं। उसका दूसरा नाम 'मूर्च्छा' अथवा 'ममत्व-परिणाम' भी है। सूत्रकारों ने भी '**मूर्च्छा परिग्रहः**' ऐसा ही उसका लक्षण किया है। परिग्रह का यह निर्दोष-लक्षण है; क्योंकि लौकिक-मान्यता की तरह यदि केवल बाह्य-पदार्थ के संयोगमात्र को परिग्रह कहें, तो यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति-दूषणों से दूषित होगा; क्योंकि बाह्य-पदार्थ का संयोग होने पर भी आत्मा में उनके साथ मूर्च्छा का अविनाभाव नहीं है अर्थात् जहाँ बाह्य-पदार्थ हो, वहाँ उनके प्रति मूर्च्छा और ममता भी हो ऐसा आवश्यक नहीं है। तथा बाह्य-पदार्थ न हो, किन्तु आत्मा में मूर्च्छा अथवा ममत्व-परिणाम वर्तता हो, तो वह परिग्रह ही है; क्योंकि परिग्रह पाप है और उसका जन्मस्थल केवल चैतन्य-आत्मा ही हो सकता है और उसके फल का भागी भी आत्मा ही होता है। जड़-पदार्थ न पाप है, न पुण्य। इसलिए उनको हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि नहीं कहा जाता। जड़-पदार्थ मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह के आधार अथवा निमित्त तो कहे जाते हैं और परिग्रह के निमित्त होने के कारण ही आत्मा की परिधि के बाहर रहनेवाले चेतन-अचेतन-पदार्थों को 'परिग्रह' संज्ञा दी जाती है; क्योंकि मूर्च्छा का निमित्त (आधार) आत्मा स्वयं नहीं होता;

किन्तु जिसके प्रति वह अपना स्वामित्व रखता है, वे ही उसके निमित्त बन जाते हैं। इसलिए महर्षियों ने बाह्य–परिग्रह के त्याग की प्रेरणायें की हैं; किन्तु बाह्य–परिग्रह के त्याग का अर्थ केवल बाह्य–वस्तुओं का क्षेत्रान्तर होना मात्र नहीं, वरन् आत्मा के भीतर से उनकी आसक्ति का बहिष्कार है। बाह्य–पदार्थों के छूटने पर भी यदि वह मूर्च्छा रह जाती है, तो वह व्यक्ति बाह्य से नितान्त–अपरिग्रही दिखते हुए भी घोर–परिग्रही है।

नियम ऐसा है कि बाह्य–परिग्रह छूटने पर भी अन्तरंग–परिग्रह रह सकता है; किन्तु अन्तरंग–परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा छूटने पर बाह्य–परिग्रह नहीं रह सकता। अतएव जहाँ–जहाँ आचार्यों ने बाह्य–परिग्रह के त्याग के उपदेश दिये हैं, वहाँ केवल बाह्य–परिग्रह नहीं; किन्तु उसके साथ अन्तरंग–परिग्रह का त्याग भी समझना चाहिए। बाह्य–पदार्थों को 'परिग्रह' कहने का एक कारण यह भी है कि वे अन्तरंग–मूर्च्छा के अनुमापक होते हैं। जैसे हिरण का भोजन 'घास' और बिल्ली का भोजन 'माँस' होता है; यद्यपि घास और माँस दोनों पौद्गालिक हैं फिर भी घास खानेवाले हिरण को घास से इतना ममत्व नहीं होता, जितना बिल्ली को माँस से होता है।

परिग्रह के अनेकान्त–बाह्य–वस्तुएँ आत्मा की मूर्च्छा के निमित्त, आधार अथवा हेतु, जो कुछ भी कही जाय; किन्तु वे परिग्रह की जननी नहीं होती। मूर्च्छा निश्चय से आत्मा के अज्ञानभाव से उत्पन्न होने वाला आत्मा का स्वतन्त्र–कृत्य है। अपने में मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए आत्मा को कोई दूसरा–पदार्थ सहयोग नहीं करता। अतएव आत्मा का अपना अज्ञानमूलक–उत्पादन होने से निश्चय से मूर्च्छा आत्मा की ही वस्तु है और उसका कारण–कार्य भी आत्मा ही है। इस अन्तरंग–

मूर्च्छा के साथ जिनका निमित्त–नैमित्तिक–संबंध है, वे बाह्य–पदार्थ 'परिग्रह' संज्ञा को प्राप्त होते हुए भी वास्तव में आत्मा के परिग्रह–परिणाम के कर्त्ता तथा कारण नहीं होते। अतएव उन्हें 'परिग्रह' अथवा 'परिग्रह का कारण' अथवा 'कर्त्ता' व्यवहारनय से ही कहा जाता है, जिसका प्रयोजन आत्मा और उन बाह्य–पदार्थों के संयोग का परिचय–मात्र देना होता है।

इस अनैकान्तिक–दृष्टि के बिना यदि कोई सम्पूर्ण बाह्य–पदार्थ के परिग्रह का त्यागकर एकान्त–निर्जन में भी चला जाये तो 'धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि–पदार्थ आत्मा के लिए अहितकर–दुःखद एवं रागोत्पादक हैं'—ऐसी विपरीत–दृष्टि का परिहार न होने से उसको अज्ञान के रूप में अनन्त–परिग्रह संचित पड़ा रहता है।

अपरिग्रह के जीवन में आने पर तो सन्त परम–मध्यस्थ और वीतरागी होते हैं, किन्तु जो बाह्य–परिग्रह को मूर्च्छा अथवा विकार का कारण मानता हुआ उसे छोड़कर वनवासी साधु बन गया है, उसे अब भी आत्मा की मूर्च्छा के प्रति धन–धन्यादि की कारणता पड़ी रहने से बाह्य निर्दोष–पदार्थों के प्रति भयंकररूप में अनन्त–द्वेष छिपा रहता है। अतः कभी भी अपरिग्रहमूलक परम–मध्यस्थ समरसी–भाव का उसे रसास्वादन नहीं होता, किन्तु व्यक्त–पदार्थों के विकल्पों में झूलते रहने के कारण उसकी चित्तवृत्ति निरन्तर ही अशान्त रहती है।

परिग्रह के भेद—1. अन्तरंग–परिग्रह, 2. बहिरंग–परिग्रह। अन्तरंग–परिग्रह 14 प्रकार का होता है और बहिरंग–परिग्रह 10 प्रकार का।

अन्तरंग–परिग्रह—आत्मा को मलिन करने वाले मिथ्यात्व और क्रोधादि–परिणाम जो सब मूर्च्छा में गर्भित हो जाते हैं, अन्तरंग–परिग्रह कहलाते हैं। वे इसप्रकार हैं—1. मिथ्यात्व 2. स्त्रीवेद 3. पुरुषवेद

4. नपुसंकवेद 5. हास्य 6. रति 7. अरति 8. शोक 9. भय 10. जुगुप्सा 11. क्रोध 12. मान 13. माया 14. लोभ।

बहिरंग-परिग्रह—वे बाह्य-पदार्थ जो आत्मा के ममत्व अथवा कषायरूपपरिणामों के निमित्त होते हैं, बाह्य-परिग्रह कहलाते हैं। उनके मुख्य दो भेद हैं—1. 'सचित्त' अर्थात् स्त्री पुत्रादि। 2. 'अचित्त' अर्थात् धन-धन्यादि। बाह्य-परिग्रह के उत्तर 10 भेद है—क्षेत्र, वास्तु (मकान) हिरण्य, सुवर्ण, धन (गाय-भैंस, रूपये-पैसे) धान्य (अनाज) दासी, दास, कुप्य, बर्तन।

परिग्रह प्रकारान्तर से हिंसा ही है; क्योंकि उसमें प्रमत्तयोग है। आत्मा का स्वभाव निष्परिग्रह अर्थात् जगत् के सभी पदार्थ और उनके निमित्त से होनेवाले रागादि-विकारों से निराला है। अत: आत्मा अज्ञान-पूर्वक स्व-पर का भेद न समझने के कारण अपने से भिन्न-पदार्थों में ममता करता है, ममता के फलस्वरूप राग-द्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायें होती हैं और वे कषायें आत्मा के निर्मल निर्विकार-स्वभाव का घात करती हैं और यह स्वघात ही हिंसा है; अत: परिग्रह हिंसा का ही एक प्रकार है। जहाँ-जहाँ मूर्च्छारूप परिग्रहभाव होता है, वहाँ-वहाँ अनिवार्यरूप से आत्म-स्वभाव का घात अर्थात् हिंसा होती है। अतएव परिग्रह के द्वारा आत्मा का अहित तो सुनिश्चितरूप में होता ही है। उस परिग्रह की भावना से लोक-जीवन में भी अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न होती हुई देखी जाती है, किन्तु यह बात औपचारिक ही है; क्योंकि अपरिग्रह के प्रकरण में भी अनैकान्तिक-दृष्टि अत्यन्त-आवश्यक होती है। हम मूर्च्छा अथवा ममत्व का परिणाम करें और उससे जगत् के प्राणी निश्चितरूप में दु:ख का अनुभव करें—ऐसी अनिवार्यता नहीं है और अपरिग्रह की वीतराग-भावना को ग्रहण करें

और उससे जगत् में सुख-शांति का प्रसार हो—ऐसा नियम भी नहीं है। अतएव परिग्रह की भावना के द्वारा प्राणी का अपना ही अहित होता है, उसके कारण दूसरों को दु:ख पहुँचता है, यह बात औपचारिक है; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक-संबंध के रूप में प्राय: ऐसा देखा जाता है कि लोक में परस्पर यदि सहयोग और सहानुभूति हो, तो वह सहानुभूति लौकिक-शांति में भी निमित्त हो जाती है। वास्तव में प्राणी के सुख और दु:ख का आधार व्यवहार से उसके पूर्व-संचित कर्म साता-असाता कर्म का उदय और निश्चय से उसका ज्ञान-अज्ञानरूप भाव है। साता का उदय केवल हमें लोकोत्तर निराकुल-शान्ति प्रदान करता है। अत: परिग्रह-मूलक आत्मा की अशांति का वारण करने के लिए आत्मा के भीतर पड़े हुए काषायिक-विकारों का शोधन ही आवश्यक है। काषायिक-विकार निकल जाने पर उनके विषयभूत अथवा निमित्तभूत बाह्य-परिग्रह भी छूट जाते हैं। बाह्य-पदार्थों को वास्तव में उपचार से 'परिग्रह' संज्ञा है; क्योंकि अनैकान्तिक-दृष्टि में निश्चय से उनका आत्मा के साथ कारण-कार्य-संबंध नहीं है। अतएव उनके ग्रहण और छोड़ने की बात भी व्यवहारनय की एक-पद्धति है। वस्तुत: बाह्य-परिग्रह आत्मा के द्वारा कभी ग्रहण ही नहीं किये जाते, अत: छोड़ने का भी प्रश्न नहीं उठता; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य-पदार्थ यदि वास्तव में परिग्रह नहीं है, तो उनका अनर्गल-संचय किया जाय। किन्तु सच तो यह है कि जब आत्मा बाह्य-परिग्रह को ग्रहण ही नहीं कर सकता अथवा उनसे सुख भी प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर उनके संचय के विकल्प से निर्वृत्त होना चाहिए। इसप्रकार उनके प्रति 'परत्व' की दृष्टि उत्पन्न होने में अनायास ही आत्मा की निर्मल-भूमि में अपरिग्रह का जन्म होता है और यही बाह्य-परिग्रह के

परित्याग की पद्धति है। जगत् के वे ही पदार्थ 'उपचार' से 'परिग्रह' संज्ञा को प्राप्त होते हैं, जो आत्मा की ममता और कषाय के निमित्त होते हैं अर्थात् जिनके सद्भाव में अथवा जिनको लक्ष्य करके आत्मा में मूर्च्छा पैदा होती है। जो आत्मा की मूर्च्छा से निमित्त नहीं बनते, वे 'परिग्रह' संज्ञा को भी प्राप्त नहीं होते हैं—जैसे वीतरागी-पुरुषों को द्रव्यकर्म और नोकर्म (शरीरादि) का ग्रहण तो होता है किन्तु उनके प्रति मूर्च्छा न होने के कारण वीतरागी-पुरुषों को परिग्रही और द्रव्यकर्म-नोकर्म को 'परिग्रह' नहीं कहते।

'अपरिग्रह' का प्रथम-चरण—जैनदर्शन की यह मान्यता है कि बाह्य-परिग्रह का होना अथवा नहीं होना अन्तरंग-परिग्रह का मापदंड नहीं है। एक फूस की झोंपड़ी में रहनेवाला, दिनभर मेहनत करके घास काटनेवाला, किन्तु फिर भी एक बार भूखा सोने वाला जगत् का कृपा-पात्र एक व्यक्ति भी, जिसके पास बाह्य-परिग्रह का संयोग न हो, वह भी उतना ही परिग्रही हो सकता है, जितना कि सम्राट्।

आज के युग में पूँजीपति और मजदूर की जो समस्याएँ और जो संघर्ष हमारे सामने हैं, उससे यह स्पष्ट है कि एक मजदूर एक पूँजीपति को इसलिए घृणा की दृष्टि से देखता है कि उसके पास पैसा है और उसके पास पैसा नहीं है। यद्यपि संघर्ष केवल तो रोटी और कपड़े के आधार पर शुरू किया जाता है; किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मजदूर पूँजीपति नहीं बनना चाहता? अथवा कभी उसको इसप्रकार का अवसर मिले, तो क्या वह स्वयं मजदूर से पूँजीपति नहीं हो जाता है? इसका अर्थ यह है कि केवल रोटी और कपड़े की माँग करनेवाला मजदूर अपने भीतर संग्रह की अनन्त-वासना या परिग्रह को लिए बैठा है।

अतएव परिग्रह की भयंकर–वासना से वासित होने के रूप में एक मजदूर भी उतना ही परिग्रही है, जितना एक सम्राट्। जैनदर्शन तो यह कहता है कि किसी प्राणी के पास कुछ बाह्य–संयोग न होने के कारण हम कभी भी उसे निष्परिग्रही नहीं कह सकते। यहाँ तो यह मान्यता है कि क्षुद्र एकेन्द्रिय–प्राणियों में भी आहार–भय–मैथुन और परिग्रह–संज्ञायें भयंकररूप में पड़ी रहती हैं; इसलिए अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाने के लिए सब कुछ छोड़कर बनवासी हो जाना भी इस दर्शन को इष्ट नहीं है। उसकी पहली शर्त है कि निरपेक्ष और स्वावलम्बी–आत्मतत्त्व से भिन्न जगत् का जितना कुछ है, उससे ममता तोड़ी जाये। जगत् के पदार्थों से अपना स्वामित्व उठा लिया जाये और भूल के कारण जगत् को सम्हलाये गये अपने अधिकार हस्तगत कर लिये जायें। यह अपरिग्रह की ओर बढ़ने के लिए प्रथम–चरण है। सम्यग्ज्ञान के आलोक में यह बात देखी जाये कि यह जगत् कितना स्वतन्त्र है और इस जगत् के सारे ही क्रिया–कलाप स्वयं जगत् के द्वारा कितनी स्निग्धता से संचालित हो रहे हैं। इस प्रथम–भूमिका को पहुँचकर साधक भ्रम के कारण बलपूर्वक अपने शीश पर धारण किया गये सम्पूर्ण जगत् के भार को उतारकर फैंक देता है। उसे पहलीबार जीवन में स्वावलम्बन का अनुभव होता है। यहाँ आकर वह अनुभव करता है कि एक अणुमात्र भी अपने जीवन के लिए मुझे अपेक्षित नहीं है। जैसे यह सम्पूर्ण–जगत् के बन्धनों को अस्वीकार करके उन्मुक्त है; उसीप्रकार इसकी दृष्टि में जगत् भी उन्मुक्त है। जीवन में प्रथम बार अपरिग्रह को साकार करनेवाला मुक्तिमार्ग का यह प्रथम–चरण है, जिसे जैनदर्शनकार 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

'अपरिग्रह' का द्वितीय-चरण–श्रद्धा की यह अवस्था कि जहाँ

सम्पूर्ण जगत् से अपना स्वामित्व हटा लिया गया है, प्राप्त हो जाने पर भी साधक में कुछ रागात्मक–कमजोरियाँ शेष रह जाती हैं; क्योंकि 'साधक' उसी को कहते हैं जो अपने 'साध्य' को पहिचानता हो, साध्य के प्रति जिसके चरण आगे बढ़ने लगे हों; किन्तु कुछ अपनी ही भीतरी–कमजोरियों के कारण जो अभी साध्य को उपलब्ध नहीं कर पाया हो। वे कमजोरियाँ राग के अनेकरूपों में विद्यमान रहती हैं और बाहर धन–धान्यादि परिग्रह के रूप में साधक के पास देखे जाते हैं। यद्यपि राग और राग के विषयभूत बाह्य–परिग्रह पर साधक का रंच भी स्वत्व अथवा स्वामित्व नहीं है, फिर भी वे होते हैं; किन्तु उनका होना एक–बात है और उनको अपना मानना दूसरी–बात।

रागात्मक–कमजोरी की साधक को कतई उपादेयता नहीं है। अतएव विद्यमान–कमजोरी को निरस्त करने के लिए साधक का पुरुषार्थ अविरल–अग्रसर रहता है और पुरुषार्थ के प्रतिक्षण–वर्द्धमान होने के फलस्वरूप साधक परिग्रह–परिमाण की भूमिका तक आ पहुँचता है। यहाँ आकर पुरुषार्थ का वेग कुछ प्रबल हो जाने के कारण वह कुछ रागात्मक–बन्धनों से इन्कार करके जीवन में स्वन्त्रता का और अधिक–आनन्द लेने के लिए अपने काम में आनेवाली सभी वस्तुओं को मर्यादित कर लेता है। वह इस बात को भलीप्रकार समझता और अनुभव भी करता है कि नादान–जगत् जिन भौतिक–समुदायों को अथवा संग्रह को आनन्द कहता है, वह भयंकर–दासता है और उसमें आनन्द की कल्पना ही आनन्द का प्रवंचन और आनन्द के प्रति सबसे बड़ा अन्याय है।

परिग्रह का परिमाण साधक के जीवन में अपूर्व–खुशहाली लाता है, दैन्य अथवा दरिद्रता नहीं। परिग्रह का द्रव्यात्म–परिमाण होने के

साथ भावात्म–परिमाण भी होता है और उस परिमाण में जितना त्याग हो चुका होता है, उतनी ही आत्मशान्ति उसे प्रतिसमय वर्तती है। यही स्वरूप–स्थिरता स्वरूपाचरण अथवा चारित्र कहलाती है। इसमें बाह्य–त्याग का महत्त्व नहीं है; किन्तु अपनी पर्याय में से आंशिक–राग निकल जाने के कारण उत्पन्न हुई शान्ति का महत्त्व है। बाह्य–त्याग नहीं होता है, ऐसा भी नहीं है; किन्तु उसके साथ पूर्व–भूमिका की अपेक्षा जीवन में निराकुल तथा स्वाधीन–शान्ति की अभिवृद्धि आवश्यक है। उसके बिना बाह्य–त्यागरूप शुभाचार की आत्महित के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। धारावाहिक अन्तरंग–शान्ति के अभाव में बाह्य–त्याग तथा मंदकषाय मिथ्या–चारित्र संज्ञा को प्राप्त होता है। इस अन्तरंग–शान्ति का प्रारम्भ चतुर्थ (गुणस्थान की) भूमिका में शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन–पूर्वक आगे होनेवाली सभी दशायें चारित्र के विकास की क्रमिक–श्रेणियाँ हैं।

'परिग्रह–परिमाण–व्रत' की परिभाषा – 1. 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के आधार पर धन–धान्यादि परिग्रह का परिमाण करके उसे अधिक इच्छा नहीं करना इसे परिग्रह–परिमाण–व्रत या इच्छा–परिमाण–व्रत भी कहते हैं।

2. अपनी शक्ति, मार्दव, संयम, शौचदि–भावनाओं के द्वारा अन्तरंग–परिग्रह तथा उसके साथ बहिरंग–परिग्रह का आंशिक–त्याग करना परिग्रह–परिमाण–व्रत कहलाता है।

परिग्रह का परिमाण राग को घटाने के लिए जीवन–पर्यन्त के लिए किया जाता है। उस परिमाण में जीवन की आवश्यकताओं का विवेकपूर्वक सही–निर्णय करना चाहिए। परिग्रह का परिमाण करने से पहले की अवस्था में आत्मा की भूमिका में आरम्भ परिग्रह–

संबंधित जो राग वर्तता है, परिग्रह का परिमाण करने पर वह राग घटना चाहिए।

जितना परिग्रह–परिमाण किया गया है, कभी भी उससे अधिक रखने का विकल्प अथवा किये गये परिमाण में असन्तोष अथवा पश्चाताप का भाव भी व्रत में दोष पैदा करता है और परिस्थितिवश कभी किये हुए परिमाण से जीवन–यापन में कठिनाई हो, तो भी वह निःशल्य–साधक–व्रत को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानकर और प्राप्त परिग्रह के भी परित्याग की भावना करता हुआ स्खलित नहीं होता।

'परिग्रह-परिमाण-व्रत' की लौकिक तथा लोकोत्तर-उपयोगिता–इस व्रत की लोकोत्तर–उपयोगिता यह है कि अपने जीवन में काम में आने वाले विषय मर्यादित हो जाने के कारण अमर्यादित–विकल्पों का अभाव होकर अपूर्व आत्म–शान्ति का जागरण होता है। सम्यग्दर्शन के काल में जिस स्वावलंबन का जन्म होता है, वहाँ यहाँ चारित्र की निर्मल–अवस्था के रूप में साकार होकर वर्धमान होता है और व्रत की जीवन के लिए सबसे बड़ी उपयोगिता यही है। जहाँ तक लौकिक–जीवन का संबंध है, वह भी इससे परिष्कृत होता जाता है। परिग्रह का परिमाण हो जाने पर भी अपनी जीवन–आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्यथा बल–प्रयोग का अवकाश नहीं रहता। साधक स्वाभाविक ही राग घट जाने के कारण अपनी आवश्यकता से अधिक नहीं लेना चाहता। अतएव उसके निमित्त से जगत् में कभी अशान्ति नहीं होती। अपने इस व्रत में परम–संतोष–भाव से निश्चल रहने के कारण उसे लोकदण्ड अथवा राजदण्ड की भी सम्भावना नहीं रहती। वह जितना कुछ जगत् से लेता है, उसे अपराध मानता है और निरन्तर भीतर ही भीतर उसे छोड़ने के लिए आतुर रहता

है। अतः जीवन–यापन के वे ढंग, जिसमें अपने गन्दे–स्वार्थों के प्रेरित होने के कारण लोक–जीवन उपेक्षित कर दिया जाता है, उसके आचरण में स्थान नहीं पाते।

लौकिक–दृष्टि से भी वह एकदम भद्र, निष्पृह और लोकादर्शों का निर्वाह करनेवाला एक असाधारण प्राणी होता है। उसके आचरण में सहज और सहसा ही 'समाजवाद' और 'साम्यवाद' जन्म लेते हैं। मानो परिग्रह का परिमाण करनेवाला यह साधक ही सच्चे–अर्थ में उन्हें जन्म देता है।

समाजवादी, साम्यवादी व्यवस्था एवं अपरिग्रहवाद एक तुलनात्मक–अध्ययन–लोक–जीवन को व्यवस्थित करने के लिए जिस समाजवाद और साम्यवाद की आवश्यकता का आज अनुभव किया जाता है, परिग्रह–परिमाण उससे बिलकुल निराली–चीज है। समाजवाद और साम्यवाद की व्यवस्था में भले ही ऊपर से ऐसा लगे कि लोक–जीवन सुखी हो गया है; किन्तु अनुशासन और नियंत्रण के द्वारा बनाई गयी व्यवस्था में व्यक्ति का मन नहीं पलटा जाता है, भले ही बाह्य–व्यवस्था समान दिखाई दे। व्यक्ति भय के कारण अनुशासन को भंग नहीं करता, इसलिए उसके पास जीवन के सीमित–उपादान देखे जाते हैं; किन्तु उसकी ईर्ष्या और अभिलाषा अनुशासित और नियंत्रित न होने के कारण वासना की भट्टी भीतर ही भीतर जलती रहती है; फलस्वरूप उसके भीतर राज्य और समाज–व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह चलता रहता है और ज्योंहि कभी राजदण्ड निर्बल होता है, व्यक्ति के विद्रोह का विस्फोट हो जाता है और साम्यवादी तथा समाजवादी–व्यवस्थायें भंग हो जाती हैं। इन व्यवस्थाओं में व्यक्ति की आवश्यकतायें परिमित दिखाई देते हुए भी वह उनसे निर्ममत्व नहीं हो

पाता। इसके विरुद्ध परिग्रह–परिमाण अथवा अपरिग्रह की पहली शर्त ही यह है कि आत्मा अपनी सीमा से बाहर–स्थित सम्पूर्ण–जगत् से निर्ममत्व हो। अतः वहाँ किसी प्रकार का नियन्त्रण अथवा अनुशासन अपेक्षित नहीं होता। निर्ममत्व की भूमि में से यह अपरिग्रह का बीज उदित होता है, अतः वह मानव–मन की एक सहज अकृत्रिम–दशा है; इसलिए वहाँ किसी प्रकार का भय और आतंक भी नहीं है। दुर्वासनायें वहाँ समाप्त हो चुकी हैं, अतः वहाँ समाज अथवा राजतन्त्र के विरुद्ध किसी विद्रोह की सम्भावना ही नहीं रहती।

समाजवाद तथा साम्यवाद जीवन–यापन की आवश्यकताओं को मानव का अधिकार मानकर चलते हैं और व्यक्ति जिसे अपना अधिकार मानता है, उसकी प्राप्ति अथवा रक्षा के लिए संघर्ष भी उसके मन में साथ ही विद्यमान रहता है। अधिकारों की भावना में भौतिक–जीवन के प्रति तीव्र–ममता पड़ी रहती है, अतः प्राणी कभी भी निराकुल नहीं हो पाता। इसके विरुद्ध अपरिग्रह को जीवन में साकार करनेवाला साधक समग्र–विश्व के प्रति निर्ममत्व होकर अपने सम्पूर्ण–अधिकारों का समर्पण कर देता है। जीवन–यापन के लिए एक निश्चित–मर्यादा में जो कुछ वह रखता है, उसे भी अपराध मानता है और प्रतिक्षण उसके विसर्जन के लिए लालायित रहता है।

समाजवादी–साम्यवादी व्यवस्था एवं अपरिग्रहवाद एक तुलनात्मक–अध्ययन–

1. समाजवादी और साम्यवादी–व्यवस्थाएँ लौकिक हैं और साथ ही अस्थायी भी। अतः उनका अन्त हो जाता है। जबकि अपरिग्रह की भावना उदित होने के उपरान्त उदित होकर क्रमशः विकासमान होकर मुक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

2. इन व्यवस्थाओं में मानव सदा ही भय और वासनाओं से आक्रान्त रहता है। जबकि अपरिग्रह में उसका पवित्र–मानस निर्भय और निःशंक रहता है।

3. समाजवादी और साम्यवादी–व्यवस्था का सृष्टा मानव होता है और उनका उपभोक्ता भी केवल मानव–समाज ही होता है। वहाँ केवल मानव के सुख–साधनों का ही ध्यान रखा जाता है। जबकि अपरिग्रह की भावना केवल मानव तक ही सीमित नहीं, पशु–पक्षियों में भी उत्पन्न होती है और वहाँ सभी के अधिकारों का ध्यान रखा जाता है।

4. समाजवादी और साम्यवादी–व्यवस्थाओं में बाह्य–पदार्थों की व्यवस्था का ही एक यत्न होता है कि जो अनधिकार–चेष्टा है। यहाँ बाह्य–व्यवस्था के साम्य की तरह मानव–मन में साम्य नहीं होता। जबकि अपरिग्रह के जन्म लेते ही आत्मा में एक सहज–साम्य की उत्पत्ति हो जाती है; क्योंकि अपरिग्रह का आधार ही अन्तःकरण है। अतः वहाँ बिना किसी प्रेरणा के मानव–मन संतुलित हो जाता है।

5. समाजवादी, साम्यवादी–व्यवस्थायें आत्मा की सुख–शान्ति की कोई गारन्टी नहीं है, न इनके पास आत्मा की भीतरी अशान्ति का कोई समाधान ही है। जबकि अपरिग्रह का तो जन्म ही आत्मा की भीतरी–शान्ति के साथ होता है और उसका चरम–विकास सम्पूर्ण–अशान्ति का क्षय कर देता है।

परिग्रह–परिमाण की 5 भावनायें–पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञामनोज्ञ–विषयों में राग–द्वेष नहीं करना।

परिग्रह–परिमाण व्रत में यह शर्त है कि जिन पदार्थों का त्याग किया गया है, उनके प्रति राग–द्वेष उत्पन्न न हो।

परिग्रह के त्याग की लौकिक-पद्धति यह है कि जो पदार्थ त्याज्य हैं, उनके प्रति घृणा अथवा द्वेष किया जाता है; किन्तु यह पद्धति अज्ञानमूलक है। परिग्रह का परिमाण करनेवाला साधक-सम्यग्दृष्टि पदार्थों के अवगुणों के पुनः-पुनः विचार से प्रेरित होकर परिग्रह का त्याग नहीं करता; क्योंकि इस दशा में पदार्थों के छूट जाने पर भी घृणा और द्वेष से आत्मा उसीप्रकार मलिन रहता है, जैसा वह उन पदार्थों को छोड़ने से पूर्व उनके प्रति होनेवाले राग से मलिन था। अतः मुक्ति-साधक सम्यग्दृष्टि के त्याग की पद्धति यह है कि वह जगत् के किसी पदार्थ को अपने लिये अथवा परस्पर एक-दूसरे के लिए इष्ट और अनिष्ट मानता ही नहीं है। अतः उनके प्रति सम्पूर्ण-प्रकार से निर्ममत्व होकर अत्यन्त-मध्यस्थ-दृष्टिवाला हो जाता है और पश्चात् रहे सहे राग का भी धीरे-धीरे बहिष्कार करता हुआ राग से संबंधित-पदार्थों का भी परित्याग करता जाता है। अतः परिग्रह के परिमाण में व्यक्त-पदार्थों के साथ जैसे उसे राग नहीं होता, उसी प्रकार द्वेष भी। वरन् उनके प्रति परम-मध्यस्थता को धारण करके वह समरसी-ज्ञाता हो जाता है।

अतिचार—1. अतिवाहन 2. अतिसंग्रह 3. विस्मय 4. लोभ 5. अतिभारवहन। इनके विस्तृत-स्वरूप के ज्ञान के लिए श्रावकाचार-ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है।

परिग्रह-त्याग-महाव्रत—इस महाव्रत में 14 प्रकार के अंतरंग और 10 प्रकार के बहिरंग, सभीप्रकार के परिग्रह का अभाव हो जाता है। महाव्रती-साधक-संत का मन अत्यन्त-पवित्र और जगत् से निस्पृह होता है। वह लोकोत्तर-मानव होता है कि जिसे लोकाचार और लोक-मर्यादाओं के कोई प्रयोजन नहीं रहता। परिग्रह के रूप में बची हुई देह

को भी तप का साधन बनाने के लिए जो कुछ आहार–ग्रहण करता है, वह भी कठोर–अभिग्रहपूर्वक और कठिन–विधानों के साथ।

भोजन मिलता है, तो भी निस्पृह और नहीं मिलता है तो भी निस्पृह। उसके अभाव में जिसका अंत:करण कभी विह्वल और जिसकी वीतराग–छटा कभी मलिन नहीं होती।

काँच और कंचन में समरसी–वृत्तिवाला यह उत्कृष्ट–साधक जिसका मन सदा ही वीतराग–आनन्द की तरंगों से तरंगित रहता है और निर्जन–वन ही जिनका एकमात्र निवास है; निर्भय और नि:शंक होकर मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता हुआ अंत में देह से विदेह हो जाता है।

जीवन में 'अपरिग्रह' की उपयोगिता–परिग्रह के त्याग का भौतिक–जीवन के लिए इतना महत्त्व नहीं है, जितना आत्मा की चिरस्थायी–शान्ति के लिए। यद्यपि उसके निमित्त से लोक–जीवन में भी बाह्य– सुख–शान्ति का संचार होता है। यह अणुव्रती तथा महाव्रती मानव जगत के प्राणियों के लिए मानों दु:ख का निमित्त ही नहीं होता। उसके भीतर परम–संतोषभाव प्रवर्तित होता है, अत: अपने लिए किसी के अधिकारों का हनन करने की दुर्वृत्ति को वहाँ अवकाश ही नहीं मिलता। उत्तरोत्तर आत्मा पवित्रता, निस्पृहता की श्रेणियों पर आरोहण करता हुआ शुद्धोपयोग को अंगीकार करके रागात्मक–विकल्पों का सम्पूर्ण–विसर्जन करता हुआ परम–शुद्ध हो जाता है और उसके भीतर जिस अतीन्द्रिय और अलौकिक–सुख का प्रादुर्भाव होता है, उसका वह सदा ही उपभोग किया करता है और अनन्त–भविष्य में पुन: कभी भी उसके भीतर रागादि–वृत्तियाँ उत्पन्न होकर उसे मलिन नहीं बना पातीं। इसप्रकार यह अपरिग्रह–मुक्ति का एक सीधा–सोपान है।

❀❀❀

आधुनिक वैज्ञानिक-प्रगति और जैनदर्शन

वर्तमान-युग भौतिक व वैज्ञानिक-युग है, इस युग में प्रत्येक व्यक्ति बात को तर्क की तुला पर तौलना चाहता है और विज्ञान के चक्षु से देखना चाहता है। वस्तु के संबंध में कोई भी तर्क का होना बुरा नहीं है, इससे तो वस्तु-निर्णय में सफलता मिलती है। जैसे- अग्नि की उष्णता के संबंध में किसी को संदेह हो तो, वह अग्नि को छूकर देख सकता है।

आज की वैज्ञानिक-प्रगति और जैनधर्म में दो बातें या तत्त्व हमारे सामने हैं, जहाँ पर जैनधर्म का मूल-आधार अमूर्त चेतन-तत्त्व है, वहाँ विज्ञान का मूल-आधार चेतन-तत्त्व जिसके भीतर रहता है, वह शरीर है और यह पुद्गल-जगत् है। दोनों भिन्न वस्तु हैं। वर्तमान में जैनदर्शन को पूर्ण रूप से नहीं समझने के कारण कुछ उलझनें पैदा हो जाती हैं।

कुछ आश्चर्य भी होता है लोग कहते हैं कि आज विज्ञान ने इतनी प्रगति की है कि चाँद-सितारों पर पहुँच रहा है और आविष्कारों की होड़ लगी है। हम कहते हैं कि यह बात तो जैनधर्म में अनादि से ही कहता आया लेकिन हमारा मन स्वयं साक्षी नहीं देता। जैन ही मानने को तैयार नहीं होते; लेकिन सचमुच जैनधर्म के पास यह खोज अनादि से है। तो प्रश्न है कि जैन-साहित्य में आज के वैज्ञानिक-विकास और उसकी चर्चा क्यों नहीं की ? इसका उत्तर बहुत-सरल

है, उन लोगों के लिए जो वैज्ञानिक-विकास के आश्चर्य में डूबे हैं, विस्मित हैं। उनको जैनधर्म कहता है कि जैनधर्म में इस विकास की चर्चा इसलिए नहीं मिलती है कि यह इस दर्शन का विषय ही नहीं है। जैनधर्म के पास इतना समय नहीं है कि वह परमाणु में किस-किसप्रकार के परिवर्तन और उनमें पारस्परिक-संश्लेष व विश्लेष अर्थात् उनमें मिलने व बिछुड़ने से क्या-क्या कार्य हो सकते हैं। उनसे जैनधर्म को कोई प्रयोजन नहीं, फिर भी जैनाचार्यों ने ही परमाणु सूक्ष्म है का व उसकी अनंत-शक्तियों का वर्णन किया है। केवलज्ञान बिना यह नहीं हो सकता।

जैनधर्म तो विज्ञान के मूल-आधार शरीर और जिसके सुख के लिए इस आत्मा ने इतना प्रयास किया है, यह जैनधर्म इससे संबंधित अनंत-प्रश्नों का एक ही उत्तर में समाधान कर देता है कि जो यह शरीर हमारे साथ है, हम इससे ममत्व तोड़े और जब इससे ममत्व टूट जाता है तो शरीर के लिए, अन्य लोगों ने अपने ज्ञान को जिस तरह उपयोग में लिया है, लगाया है, तो जैनदर्शन इसमें चकित क्यों होगा? उसे आश्चर्य क्यों होगा? कि जिसके विकास में यदि जिसका मूल शरीर है, उससे ही उसे कुछ अपेक्षा व प्रयोजन नहीं; क्योंकि आत्मा उसके साथ रहता है, फिर भी शरीर के साथ किंचित् मात्र भी संबंध व ममत्व स्वीकार नहीं करता, तो उस शरीर से लेकर उससे संबंधित जितना विकास होगा, उसमें व्यवसाय करना जैनधर्म का कार्य कैसे हो सकता है?

इस दर्शन की प्रशंसा तो अन्य दर्शनकारों ने भी बड़ी महिमापूर्वक की है। जर्मन विद्वान् जैकोबी ने कहा कि "जैनधर्म के सिद्धान्तों से सत्य-विचारों के द्वार खुल सकते हैं।" जैनाचार्यों के पास इस बात

के लिए समय नष्ट करने का कोई कारण नहीं और तीर्थंकर सर्वज्ञ-परमात्मा की वाणी व ज्ञान में तो पुद्गल के अनंतभूत, वर्तमान व भविष्य का पूरा स्पष्ट-चित्र झलक जाता है, इससे अधिक क्या आयेगा ? उनका गणधरदेव के द्वारा गुंथन किया गया, उसमें सचमुच इस दर्शन को प्रयोजन नहीं, कोई अपेक्षा नहीं, गरज नहीं। आज विज्ञान का जो विकास हुआ है, वे सम्पूर्णरूप से पौद्गलिक हैं, जैनदर्शन ने अपने सर्वज्ञ-प्रतिपादित जो सिद्धान्त हैं, उसमें इस विकास के फार्मूले और इसके गुर दे दिये हैं, विज्ञान का जो बहुमुखी-विकास है, वह जैनधर्म में सुरक्षित है, क्योंकि विज्ञान का एकमात्र-आधार अणु और उसकी शक्तियों का विश्लेषण करना। विज्ञान आत्मा को नहीं मानता, तो सर्वज्ञ को भी नहीं मानता, इसलिए उसके पास जितना ज्ञान होगा, पुद्गलाश्रित ही होगा उतना ही तो विकास कर पायेगा। जैनदर्शन का कहना यह है कि तुमने विकास ही क्या किया ? अणु के पास अनंत शक्तियाँ हैं, जिनकी यह दर्शन चर्चा करता है या ज्ञान ने उन शक्तियों को प्रत्यक्ष देखा है, इसलिए विज्ञान समाप्त हो जायेगा। लेकिन इस विज्ञान में यह शक्ति नहीं कि वह एक अणु की भी शक्तियों का वह बोध कर सके, क्योंकि विश्व का यह प्रवाह अनादि-अनंत है, ऐसे अनंत-विज्ञान पहले भी उद्भव हो चुके और मिट चुके हैं, लेकिन जैनदर्शन का जो शाश्वत-सत्य है, उसने अणु के संबंध में, उसकी शक्तियों की ध्रुवता, अक्षयता के संबंध में जो कहा वह अमिट है और उसका जो आत्मतत्त्व है, वह भी अमिट, अमर है ही।

जिन्होंने जैनदर्शन का बारीकी से अध्ययन किया, वह चाहे जैनदर्शन के सिद्धान्तों को गहराई से न समझ पाये हों, लेकिन जो

निष्पक्ष-विचारक व दार्शनिक हुए, उन लोगों ने निष्पक्षता से यह बात कही कि हमने अनेक भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया है, लेकिन जो बारीकी और पदार्थ के संबंध में जो सूक्ष्म-चिंतन जैनदर्शन ने पाया, वह अन्यत्र नहीं है। इसलिए इटली के दार्शनिक टोरी ने कहा कि ज्यों-ज्यों पदार्थ विज्ञान का विकास होगा, त्यों-त्यों जैनदर्शन के सिद्धान्त प्रमाणित हो रहे हैं और होंगे, जैनदर्शन के विरुद्ध विज्ञान ने कोई विकास किया हो, यह बात संभव नहीं। कितना सुन्दर है उस दार्शनिक का वचन कि मैंने यह पाया है कि अणु की जिन शक्तियों का प्रतिपादन जैनदर्शन ने किया आज विज्ञान उन्हीं का विकास कर रहा है, इसके अतिरिक्त दूसरा नया विज्ञान या अणु उसने (विज्ञान) बनाया या विकास किया हो, तो हम उसे नतमस्तक हो सकते हैं, लेकिन उसकी सामर्थ्य ही नहीं है।

एक सबसे महत्त्वपूर्ण-बिन्दु यह है कि जैनदर्शन ने मूर्त के साथ जिस अमूर्त-तत्त्व का विश्लेषण किया। इतना ही नहीं बल्कि उसके स्वरूप का जैन-महर्षियों ने हथेली पर रखा, उसकी साक्षात्-अनुभूति की, उस अमूर्त-तत्त्व का जो ज्ञानी, ऋषि, वीतरागी सर्वज्ञ-परमात्मा का अनुभव का चुके, उनके लिए मूर्त का अनुभव क्या मूल्य रखता है? अतः संयोगों में ही विकास हुआ है, नया कुछ विकास हुआ ऐसा नहीं। आज जो वस्त्र है, 50 वर्ष पहले नहीं थे, आज उनका रूप बदला, तो संयोगों का ही रूप बदला है, जो संयोग हमें जीवन में उपलब्ध हैं।

जैनदर्शन का स्वर उनसे यह ममत्व तोड़ने का ही है, तो हम लोग उन संयोगों पर विस्मित नहीं होंगे; क्योंकि हम जानते हैं कि पहले से अर्थात् अनादि से अणु की जो शक्तियाँ प्रतिपादित की हैं,

उन शक्तियों की ही अभिव्यक्ति, उद्घाटन हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। विज्ञान की यह बात उन लोगों के मस्तिष्क में झनझनाती है, जिनको संयोगों से प्रीति है, वे विषय के प्रति ममत्वशील हैं; लेकिन जिन्होंने आत्मा के निर्ममत्व का ही पाठ पढ़ा है, उनको भौतिकता का चरम-विकास होता दिखाई देता है, अनेकरूप बदल रहे हैं, उन रूपों के कितने ही वेश हमारे जानने में आये, लेकिन दर्शन कभी विचलित नहीं होता, अपने स्वरूप-सौन्दर्य से कभी स्खलित नहीं हुआ।

जैनदर्शन के चिह्नों पर जिन्होंने कदम रखे हैं एवं उसका अनुशीलन किया है, उन्हें कभी विस्मय होगा ही नहीं, आज जितने भी साधन, प्रसाधन हैं, वह संयोग ही तो हैं। लोग कहते हैं पहले लाउड-स्पीकर नहीं थे, तो जनता को सुनाई नहीं देता था, वक्ता को जोर-जोर से बोलना पड़ता या और आज यह हो गये तो विज्ञान की ही तो कृपा है; लेकिन यदि हमने यह माना कि विज्ञान ने आत्मा को यह सुविधा दी। यहाँ से तो अज्ञान का प्रारंभ होता है। इस अज्ञान का अनंत कहाँ होगा। इसलिए कोई सुख व सुविधा आत्मा को नहीं चाहिए। यदि लाउड-स्पीकर नहीं है, तो क्या कोई व्यक्ति आत्मा का चिंतन नहीं करेगा, आत्मकल्याण नहीं करेगा ? खुला है मैदान, जिसको चैतन्य-सत्ता का ममत्व जागा है, उन्हें यह स्पीकर, टी.वी. वायुयान क्या करेंगे ?

बिना इच्छा व चाह के समवसरण में, जो इतना विशाल 12 योजन का वहाँ लाउड-स्पीकर कहाँ से लायेंगे, एकाक्षरी-ध्वनि निकलती है। सभी जीव चाहें तिर्यंच हों, मनुष्य हों, देव अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। धारावाहिक मेघ-गर्जन समान चलती है,

क्या वैज्ञानिक ये आविष्कार कर सकेंगे। विज्ञान की जितनी भी खोज है, वह विषय-कषाय को पोषण देती है और जैनदर्शन की खोज आत्मपोषण देती है, रॉकेट की गति की चर्चा विज्ञान करता है, लेकिन उन्हें यह पता नहीं है कि एक शुद्ध-परमाणु एक समय में 14 राजू गमन करता है। विज्ञान ने हमें नया कुछ नहीं दिया, बल्कि हम जो अनादि से ही चार संज्ञायें प्राप्त हैं, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह उनका उपयोग विषयों में करके, ज्ञान का दुरुपयोग करने में व्यस्त हैं, इससे हमारा हर क्षण अहित हुआ है, किंचित् भी हित नहीं हुआ।

विज्ञान सदा शरीर के पोषण की बात करता है, आत्मा तो वहाँ है ही नहीं, इसमें अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। भौतिक-विद्या मैं हूँ—यह मूल अविद्या है, यह अविद्या ही इसका मूल है, इसमें आत्मविकास नहीं होकर पतन के ही अंकुर फूटनेवाले हैं और आगे भी यही शृंखला चलनेवाली है।

विज्ञान ने अपने ज्ञान को भौतिक साधनों में लगाकर विकास कहा, लेकिन हम स्वयं ही परमाणु की शक्तियों का प्रयोग कर देखते हैं, परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखाई देता है। आंधी, तूफान, भूकम्प आते हैं, इन पर विज्ञान प्रतिबंध करके बताये, कुछ हो नहीं पायेगा। कितने ही वैज्ञानिक उस अमूर्त आत्मा को काँच की शीशी में बंद कर देखना चाहते थे। लेकिन उनका जीवन समाप्त हो गया, वे चले गये, आज तक भी ढूँढ़ नहीं पाये; क्योंकि वह चर्म-चक्षु का विषय नहीं है। इसलिए दूसरे दार्शनिक ने एक बहुत सुन्दर बात कही कि आज की साइंस है, उसके संस्थापक भगवान महावीर थे, यह निष्पक्ष लोगों की विद्वानों की बात है।

विज्ञान का चारों ओर शोर है, अस्त्र, हथियारों बम तैयार आदि

की आवाजें उन्हीं का निर्माण 60000 हाइड्रोजन-बम तैयार हो चुके हैं। सिर्फ दो शक्तियाँ समूचे विश्व का नाश कर सकती है, ऐसे हिंसात्मक-प्रयोग कहाँ चलते हैं, भावों में भी प्रचुर तीव्र-कषाय होती है, लेकिन यदि अहिंसा का अस्त्र हमारे पास न हो, तो हम सदा भयभीत चिन्तित बने रहेंगे, अहिंसा के निःशस्त्रीकरण द्वारा ही विश्व में मैत्री व शांति संभव है।

कई दार्शनिकों ने जैनधर्म को गालियाँ बहुत दीं, लेकिन ये लोग जैनदर्शन को पढ़ने की तकलीफ करते तो इनके मुँह से ऐसे शब्द नहीं निकलते, कहलाते तो संत दार्शनिक हैं। इसलिए विज्ञान में दर्शन व धर्म ढूँढ़ना मृगतृष्णा में जल ढूँढ़ना है। जहाँ दर्शन का विकास होता है अर्थात् अपने अमूर्त आत्मतत्त्व में निष्ठा हो जाती है, तो यह भी सहज-विकसित हो जाता है, यदि इसमें विकास हो, तो हम उसे अहिंसा के भाव से काम में ले लेते हैं। विज्ञान की रुचिवालों को विज्ञान के माध्यम से इस दर्शन की रुचि जागृत कराई जा सकती है।

वैज्ञानिक बार्बी पानी की एक बूँद में 36000 जीव घोषित कर चुके हैं। वैज्ञानिक अनरेड ने कहा कि यदि पानी के जल कणों को गिना जाय, सारे संसार के नर-नारी प्रति सैकेण्ड पाँच की रफ्तार से गिनती शुरू करे, तो वह दो ओस पानी में इतने जीव हैं कि उनको गिनती करने में 40 लाख वर्ष लगेगा। हमारे सूक्ष्म ज्ञानधारी आचार्यों ने क्या कहा—इससे आगे—"एक बूँद पानी में अनंत-परमाणु व अनंत-जीव हैं।" डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने इन पेड़-पौधों में जीव की सिद्धि की। कहा कि इसमें भी हमारी तरह जीवन होता है, हम जैसे संवेदनशील होते हैं, श्वाँस लेते हैं एवं भावनाओं (ज्ञान) से युक्त होते हैं।

विस्तृत प्रोफेसर ने लिखा है कि जो आकाशपिंडी होते हैं, उनमें परमाणु इतनी सघनता से बन जाते हैं कि आकाश के एक इंचवाला टुकड़ा लो तो उनका वजन 620 टन हो सकता है। इसमें आश्चर्य लगता है; लेकिन हमारे आचार्य यह बात कहते हैं, तो विश्वास नहीं होता।

'विज्ञान' शब्द नया नहीं, क्योंकि जैनदर्शन में भेद-विज्ञान अनादि अनंत है। लोग साइंस को नया मानते हैं, भेद-विज्ञान की साइंस इस साइंस से निराली है। विज्ञान का प्राणान्त हो जायेगा, लेकिन अपने विज्ञान से सिद्धि नहीं कर पायेगा। भेदविज्ञान की साइंस में ही मुक्तिमार्ग का उद्घाटन होता है, जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे भेद-विज्ञान से हुए हैं और सदा होते रहेंगे, वे इसी भेद-विज्ञान से होंगे, भौतिक विज्ञान से नहीं, इस विज्ञान का भेद-विज्ञान से कोई तालमेल नहीं, समानता नहीं। बल्कि इसमें अपने को समेटना है, फैलाना नहीं, विस्तार से अनेक प्रश्न होते हैं। जिसने इस सूक्ष्म व सरल-मार्ग का आश्रय लिया है, उसके सामने कोई प्रश्न बाकी नहीं। एल्विन टॉलफर के शब्दों में कि आज के विज्ञान से पूछा जाये कि उसका लक्ष्य क्या है, तो वह यह कहता हुआ पाया जायेगा कि एक ऐसी ट्रेन में बैठे हैं कि जिसका एक्सीलेटर तो निरन्तर दबता जा रहा है, किन्तु ब्रेक काबू में नहीं हैं, कहाँ जाकर टकरा जाये कुछ पता नहीं। गति तो दिखाई देती है, पर दिशा नहीं, दिशा के अभाव में गतिशीलता भयंकर-संकट में डाल देनेवाली होती है। अकेला विज्ञान अंतिम-सत्य नहीं है, धर्म अन्तिम-सत्य है।

वैज्ञानिक जार्ज बर्नाड शा ने अंतिम-समय में अपनी भावना व्यक्त की – "यदि मुझे कोई धर्म चुनना पड़े, तो वह पूर्वी जैनधर्म होगा।"

आज के विज्ञान ने वायुयान बनाये हैं, वे बनाये गये हैं, उनकी

एक टेक्नीक भी है, लेकिन जो देवलोक के विमान होते हैं, उन्हें किसने बनाया और उनमें कौन-सा पेट्रोल होता है और पहले उड़न-खटोले जिनका वर्णन आता है, उनको कौन चलाता था? यह विज्ञान से एक कदम आगे की बात है, वायुयान के लिए तो अनेक-साधन चाहिए और फिर एक्सीडेन्ट भी चाहिए, लेकिन हमारे यहाँ तो पुण्य का जो विज्ञान है, उनसे स्वर्गों में ऐसे यान, विमान मिलते हैं, जिनका कभी एक्सीडेन्ट नहीं होता, जो कभी टूटते-फूटते नहीं।

जैनधर्म विश्व में कुछ ऐसे समाधान प्रस्तुत करता है, जो अन्य में नहीं; क्योंकि इसके पास सम्यग्ज्ञान है, तत्त्वज्ञान है, जहाँ एक भी प्रश्न शेष नहीं रहता। हम देखते हैं जो विज्ञान का आश्रय लेते हैं, वहाँ हिंसा बढ़ी है, चोरियाँ बढ़ी हैं, पाप बढ़े हैं और नरक के रास्ते खुले हैं, निगोद के रास्ते खुले हैं, विज्ञान ने पराधीन बना दिया है, अकेला विज्ञान विनाशकारी सिद्ध हो सकता है। विज्ञान पर धर्म का अंकुश आवश्यक है। जैसे अंकुश-रहित हाथी और लगाम-रहित घोड़ा बेकाबू हो जाता है, वैसे ही धर्म-रहित विज्ञान उच्छृंखल हो जाता है।

जीवन सबके बिना भी चलता है, आत्मा को क्या चाहिए, आत्मा स्वावलंबी है, स्वाधीन है, निर्दोष है, पूर्ण है, उसे अपने जीवन के लिए इन जड़-साधनों की आवश्यकता ही नहीं, जिसको विज्ञान नहीं चाहिए, शरीर भी नहीं चाहिए, सम्पूर्ण आश्चर्य विज्ञान के, आत्मा के निकट आकर चुप हो जाते हैं क्योंकि आत्मवस्तु महाश्चर्यशाली है, अनेक-गुणों के सुरभित निदान जहाँ भरे हैं। जो तत्त्व पर अडिग हैं, रेवती रानी का उदाहरण हमारे सामने है, उनसे कहा गया कि समवसरण आया है, दिव्यध्वनि होने वाली समवसरण

जैसी चीज महाविशाल, लेकिन वह बोली की 25 तीर्थंकर होते ही नहीं, ऐसी दृढ़- श्रद्धालु भी, ऐसी श्रद्धा हमारी हो तो उस लोक का, कैसा ही आश्चर्य हो, कहा जाता हो लेकिन तत्त्वज्ञान के शब्दकोष में आश्चर्य नाम की कोई वस्तु नहीं, वह किस पर आश्चर्य करे, पदार्थ अनंत हैं, उनका अपना वैभव अनंत है।

हमें सर्वज्ञता की सिद्धि करनी चाहिए, सर्वज्ञ है और उन्होंने अपने केवलज्ञान के चक्षु से कण-कण को देखा है, ज्ञान में हीनाधिकता व तारतम्य स्पष्ट दिखाई देती है। ज्ञान में हीनाधिकता व तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है, तो वह ज्ञान पूर्ण क्यों नहीं हो सकता? वह पूर्ण होता है, यह बात संभव है, जैसे वनस्पति कीड़े, मकोड़े आदि में कम, मनुष्य में अधिक, मनुष्य को पूर्ण-विकास अर्थात् ज्ञान-शक्ति जितनी है, उनका ज्ञान-शक्ति पर्यायों का सम्पूर्ण-विकसित होना, उसे ही 'सर्वज्ञ' नाम दिया गया, सिद्ध करने में कुछ जटिलता नहीं।

जिस दर्शन ने ज्ञान को स्वीकार किया, ज्ञानवाले को स्वीकार किया, ज्ञान-तत्त्व का विश्लेषण किया, वहाँ सर्वज्ञ कैसे नहीं होगा? और यदि अनादि-अनंत विश्व में यदि सर्वज्ञ नहीं हुआ, तो हम कैसे कह सकते हैं कि ज्ञान पूर्ण भी हो सकता है, जब उसकी सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं है, ऐसे पुरुष जिनका ज्ञान पूर्ण हुआ, उन्हें विश्लेषण किया है, उनके पास सर्वज्ञता है, वह सर्वज्ञता मानते हैं, तो उसका सम्पूर्ण-साहित्य सत्य है, उसकी सम्पूर्ण वाणी सत्य है, असत्य के लिए कोई स्थान नहीं, इसलिए सर्वज्ञ है। यह बात पूर्ण-निर्विवाद है, दूसरे अन्य-दर्शन भी कहते हैं कि हमारा अन्तर-आत्मा है, लेकिन वहाँ वीतरागता नहीं, इसलिए इस दर्शन के पास वीतरागता पहले व सर्वज्ञता बाद में है। जैनदर्शन बोला "जहाँ राग है, वहाँ

सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती, क्योंकि यदि सर्वज्ञता होगी और राग शेष है, तो जो कुछ भी दिखेगा, तो उसका चित्त ही अस्तव्यस्त होगा, वह जगत् का अधिक कष्टवाला पुरुष होगा। महादुःखी जीव सर्वज्ञ होगा, यह भी अमूर्त-विज्ञान है, अमूर्त को जो प्रत्यक्ष-अनुभव करते हैं, इसी का उन्होंने प्रतिपादन किया, इसका मूल-आधार अमूर्त-आत्मा है। इस विज्ञान के सामने अनेक-विज्ञान आते, जाते रहेंगे, लेकिन वह कभी आकर्षित नहीं होंगे, अनेक दूसरे विश्लेषण जो हमारे उपादान हैं, उनका भी वर्णन इसने किया, क्योंकि अन्यत्र अहिंसा नहीं। वे आलू, गोभी का विश्लेषण क्यों करेंगे, उन्हें क्या मतलब ? यह विज्ञान तो बदलते रहेंगे, एक वैज्ञानिक ने क्या कहा, दूसरा आया, वह दूसरी बात कहेगा, लेकिन जैनदर्शन का विज्ञान अनादि-अनंत है, कभी इसमें परिवर्तन होनेवाला नहीं, क्योंकि यह सर्वज्ञ का है।

कितने ही पदार्थ भौतिक-विकास को, लेकिन इस विकास में जो हमारे काम का है, उसको हम अहिंसकभाव से काम ले लेते हैं। ऊपर चन्द्रमा पर जाना चाहते हैं, लेकिन एक दिन अवश्य नीचे आना पड़ेगा, धरती पर रहना सीखें—ये सारी कल्पनायें नष्ट हो जायेंगी जब प्रलय होगा तो। लेकिन आत्मा विज्ञान का नाश कभी न हुआ है, न कभी होगा, इसी आत्मविज्ञान की प्राप्ति कर विज्ञान नगर सिद्धशिला के वासी बने।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में तार्किक एवं बौद्धिक-ज्ञान व श्रद्धा द्वारा हम कह सकते हैं "जैनधर्म बिना विज्ञान अंधा व पंगु है, वह इसकी (जैनधर्म की) मूल-शक्तियों व सत्ताओं के बारे में बिल्कुल अनभिज्ञ है।"

❀❀❀

अनेकान्त-स्याद्वाद : एक विवेचन

अनेकांत जैनदर्शन का एक मौलिक सिद्धान्त है। अनेकांत एवं जैनदर्शन का ऐसा तादात्म्य है कि एक के नाम मात्र से ही दूसरे का बोध हो जाता है। जैनदर्शन को यदि हम काय कहें तो अनेकांत उसका प्राण है। अनेकांत के अभाव की कल्पना और जैनदर्शन अर्थात् वस्तु-दर्शन के अभाव की ही कल्पना है। अत: जैनदर्शन स्वयं अनेकांत-स्वरूप ही है। इसका विवेचन हम कुछ बिन्दुओं के आधार पर करेंगे-

1. अनेकान्त का स्वरूप, 2. वस्तु में अनन्त धर्मों की आवश्यकता एव उनकी सिद्धि, 3. वस्तु में अनन्त धर्मों की उपयोगिता, 4. गुण और धर्म में अन्तर, 5. अनेकान्त के मुख्य अंग, 6. अनेकान्त के मुख्य-अंगों का विवेचन।

अनेकान्त का स्वरूप—अनेकान्त - अनेक+अंत=अनन्तधर्म। अनेकान्त की व्याख्या दोप्रकार से होती है—1. वस्तु के आधार से, 2. ज्ञान के आधार से। प्रत्येक वस्तु अनेकान्त-स्वरूप है एवं उस वस्तु को जाननेवाला ज्ञान भी अनेकान्त है।

अनन्तधर्म-धर्म के पर्यायवाची—स्वभाव, विशेषतायें, शक्ति। यह अनन्तधर्म जगत् की प्रत्येक वस्तु में होते हैं।

वस्तु में अनन्त-धर्मों की आवश्यकता—जगत् में जितने भी अनंत पदार्थ हैं, वे भी अनन्त-कार्यों को उत्पन्न करते हुए दिखाई देते हैं एवं सभी पदार्थ सक्रिय-परिणमनशील हैं। उन्हें अपने कार्य को

उत्पन्न करने के लिए किसी दूसरे पदार्थ की ओर नहीं देखना पड़े अर्थात् किसी से याचना न करनी पड़े, वे स्वतंत्ररूप से प्रतिसमय अपना कार्य कर सके, इसलिए पदार्थ में अनन्त-धर्मों की आवश्यकता है।

अनेकांत की परिभाषा—समयसार परमागम के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र अनेकान्त का स्वरूप यह प्रतिपादित करते हैं - "**एक वस्तुनि वस्तुत्व निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाश-मनेकांतः**" अर्थात् वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली (प्रकाशित करने वाली) अस्ति-नास्ति आदि परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का एकसाथ प्रकाशन अनेकांत है।

अनन्त-धर्मों की सिद्धि—पदार्थ तो एक होता है और उसके कार्य अनन्त होते हैं, जैसे आत्मा नामक पदार्थ वह अस्तित्ववाला है, वह एक पदार्थ है, उसके कार्य अनेक दिखाई देते हैं, जैसे वह जानता है, जानने के राग-द्वेष करता है, उस राग-द्वेष के साथ सुख-दुःख की अनुभूति करता है, इसप्रकार कार्य अनन्त होते दिखाई देते हैं, इसलिए उनको उत्पन्न करने के लिए शक्तियाँ भी अनन्त चाहिए। इसप्रकार अनन्तधर्मों की सिद्धि हो जाती है।

अनन्त-धर्मों की उपयोगिता—अनन्त धर्मों की उपयोगिता यह है कि वह वस्तुत्व की निष्पत्ति करता है, वस्तु को अपने स्व-चतुष्टय में रखता है, वस्तु के वस्तुत्व को बनाये रखता है। जैसे आम है, वह जामुन नहीं है, अगर वह आम जामुन हो जावे, तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जावे, उसकी स्वतंत्र-सीमा कोई नहीं रहेगी। जैसे हमारे पास 100 फुट या 50 फुट भूमिखंड है, उस सीमा के बाहर हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। यदि उसके बाहर एक इंच जमीन को भी कोई व्यक्ति अपनी कहे या मान बैठे, तो वह अपने क्षेत्र से निकलकर पर के क्षेत्र में जायेगा।

यदि दूसरे की सीमा भी हमारी सीमा में आकर मिल जाये, तो हम उसको 100 फुट या 50 फुट (हमारा भूखंड) नहीं कह सकेंगे इसप्रकार भिन्न न रहने से सारी ही भूमि पिण्डरूप हो जायेगी, उसकी स्वतंत्र-सत्ता नष्ट हो जायेगी। इसीप्रकार जगत् के सारे ही पदार्थ अपनी-अपनी सीमा में रहते हैं, वे अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करते, इसी को हमारे जैन-संत व जिनवाणी में स्व-चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) कहते हैं, यह प्रत्येक पदार्थ की सील्ड-सीमा है। यदि पदार्थ अपनी सीमा को छोड़ दे, तो सारे विश्व में बड़ा संघर्ष, अतिक्रमण फैल जायेगा, सारा जगत् मिलकर एक हो जायेगा। पदार्थ का स्वतंत्र-अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

पदार्थों का एक-दूसरे के प्रति उपकार—पदार्थों का एक-दूसरे के प्रति यही उपकार है कि वह अपनी-अपनी सीमा में केलि करते हैं, मौन रहते हैं, एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ पूर्ण-शक्ति-सम्पन्न है। वस्तु का अपनी सीमा को नहीं छोड़ना वस्तु का वस्तुत्व है, कुदरत का यह उपकार आदर करने योग्य है (अवहेलना करने लायक नहीं है)।

गुण और धर्म में अन्तर—धर्म का अर्थ शक्ति भी होता है, लेकिन सभी शक्तियाँ धर्म नहीं होतीं। यदि पदार्थ में शक्ति न हो तो पदार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शक्तियों का वर्णन दोप्रकार से होता है—1. गुण, 2. धर्म।

असमानता—

1. गुण वस्तु में त्रैकालिक होते हैं अर्थात् नित्य होते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। धर्म त्रैकालिक भी होते हैं और क्षणिक भी होते हैं।

2. गुण परस्पर–विरुद्ध नहीं होते, धर्म परस्पर–विरुद्ध होते हैं। गुणों की पर्याय होती है, धर्म की पर्याय नहीं होती।

3. गुण वस्तु का लक्षण होता है, धर्म वस्तु का लक्षण नहीं होता।

समानता–

1. गुण भी वस्तु में अनंत होते हैं और धर्म भी वस्तु में अनंत होते हैं।

2. गुण भी वस्तु के पूरे भाग में रहते हैं और धर्म भी पूरे भाग में रहते हैं।

विशेषरूप से–'गुण' संज्ञा में उदाहरण के लिए, जैसे–आत्मा के ज्ञान–दर्शन–गुण त्रैकालिक होते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता।

धर्म–नित्य–अनित्य आदि धर्म भी गुण की तरह वस्तु में सदा रहते हैं, किन्तु जिन धर्मों का सम्बन्ध पर्याय के विकार से होता है, वे पर्याय के विकार के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे आत्मा के नित्य और अनित्य–धर्म जिनका संबंध द्रव्यपर्याय से है, वे आत्मा में सदा रहते हैं। किन्तु आत्मा में रागादि पर्यायरूप ऐसे अनेक अनियत–धर्म आत्मा के शुद्ध होने (सिद्ध–दशा में) पर नष्ट हो जाते हैं।

3. धर्म की पर्याय नहीं होती है, क्यों? इसका सबल–हेतु यह भी है कि पर्याय में विकार की संभावना होती है, विकार हो ही हो, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं। कल्पना करें यदि नित्य–धर्म की पर्याय हो और उसमें विकार होने लगे, तो अनित्य अपने परिणमन करने योग्य की तरह उस अनित्यता के साथ सारा द्रव्य अनित्य होकर नष्ट हो जायेगा।

4. अनन्त–गुणों में कोई भी विशेष–गुण वस्तु का लक्षण होता है; धर्म वस्तु का लक्षण नहीं होता। लक्षण उसे कहते हैं, जिससे वस्तु पहचानी जाती है।

मिश्री में मिठास—पदार्थ में अनन्त–गुण हैं, उसमें दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष।

आत्मा में ज्ञानगुण—गुण परस्पर–विरुद्ध नहीं होते, जैसे आत्मा का ज्ञान–गुण, दर्शन–गुण के विरुद्ध नहीं होता। धर्म परस्पर–विरुद्ध होकर भी वस्तु में अविरोध–भाव से रहते हैं। जैसे अस्तिधर्म–नास्तिधर्म। परस्पर–विरुद्ध होते हुए भी एक ही वस्तु में सदा अविरोधरूप से रहते हैं।

अनेकांतमयता – पदार्थ अनेकांतस्वरूप है अर्थात् परस्पर–विरुद्ध अनन्त–धर्ममय होता है और अनेकान्त के प्रकरण में परस्पर–विरुद्ध धर्मों का ही विचार किया जाता है, गौणरूप से उसके विवेचन में पदार्थ के गुण भी गर्भित हो जाते हैं।

मुख्य भंग – 1. अस्ति–नास्ति, 2. नित्य–अनित्य, 3. सत्–असत्, 4. एक–अनेक।

अनेकांत के मुख्य-अंगों का विवेचन

1. अस्ति-नास्ति – 1. 'अस्ति' पदार्थ अपने अस्तित्वमय अपने स्व–रूप से है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव–स्वरूप है। 2. नास्ति—पदार्थ पर के अस्तित्व स्वरूप अर्थात् उसमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं है अर्थात् उसमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सदा ही अभाव रहता है—ऐसी नास्ति नामक शक्ति (धर्म) भी जगत् के प्रत्येक पदार्थ में सदाकाल विद्यमान रहती है और उसके कारण पदार्थ में कभी भी किसी दूसरे पदार्थ का प्रवेश नहीं होता।

इसके चार विशेष-भंग –

द्रव्य – प्रत्येक पदार्थ का स्वद्रव्य अपना ही होता है, जैसे मिट्टी का स्वद्रव्य मिट्टी के परमाणु।

क्षेत्र – वस्तु जिस क्षेत्र (स्थान, आकाशादि) में रहती है, वह उसका क्षेत्र नहीं है, वस्तु का क्षेत्र तो उसकी लम्बाई और चौड़ाई, वही उसका स्वक्षेत्र है, प्रत्येक पदार्थ का क्षेत्र वास्तव में अपना ही होता है, किसी दूसरे के क्षेत्र में जैसे आकाश में रहने की बात कही जाती है, वह औपचारिक है, वास्तविक नहीं।

काल – वस्तु की वर्तमान-अवस्था को वस्तु का स्वकाल कहते हैं। इससे वस्तु की कोई अवस्था वस्तु से बाहर नहीं निकलती।

भाव – वस्तु की शक्तियाँ। प्रत्येक पदार्थ की कार्योत्पादक-शक्तियाँ अपनी ही होती हैं और वह उन शक्तियों के आधार पर ही अपने स्वकाल अर्थात् स्वकार्य की उत्पत्ति करते हैं।

2. नित्य-अनित्य – 'नित्य' धर्म के कारण वस्तु का कभी नाश नहीं होता और 'अनित्य' धर्म के कारण उसका प्रतिसमय विनाश होता है अर्थात् उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। नित्य और अनित्य धर्मों की छाया में यदि हम देखें, तो पदार्थ का सम्पूर्ण-विनाश कभी भी संभव न होकर केवल उसमें रूपान्तर देखने को मिलता है। जैसे घट नामक एक पदार्थ में मिट्टी उसका नित्य-अंश है और घटरूप अनेक-अवस्थायें उसके अनित्य-अंश हैं, घटरूप पर्याय का विनाश हो जाने पर भी मिट्टी विद्यमान रहती है, इसीप्रकार जगत् के सारे ही पदार्थ जड़ और चेतन नित्यानित्यात्मक हैं, पदार्थ में यदि केवल नित्य-धर्म को ही स्वीकार किया जाये और अनित्य-धर्म को नहीं, तो जगत् में जो नाना-रूपान्तर प्रतिसमय जो हमारी प्रतीति में आते हैं, वे संभव नहीं हो सकेंगे और आत्मा में संसार और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी तथा यदि पदार्थ को केवल अनित्य ही स्वीकार किया जाये, तो प्रतिसमय अवस्था के विनाश के साथ सम्पूर्ण-पदार्थ का भी विनाश

हो जायेगा और सम्पूर्णरूप से पदार्थ का विनाश हो जाने पर एक क्षण के लिए भी पदार्थ की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकेगी; क्योंकि सर्वथा असत्–पदार्थ का कभी जन्म नहीं होता, जैसे घट–पर्याय के विनाश के साथ यदि मिट्टी का भी विनाश हो जाये, तो फिर मिट्टी घड़ा दोनों ही शाश्वतिक–अभाव को प्राप्त हो जायेंगे।

तत्–अतत् – जगत् के सारे ही पदार्थ तत्–स्वरूप ही होते हैं और अतत्–स्वरूप भी। इसका यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ स्व–रूप रहता हुआ, पर–रूप हो जाता है। जैसे आत्मा का ज्ञान–गुण ज्ञानस्वरूप भी हो और ज्ञेय–स्वरूप भी हो ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा का ज्ञानगुण सदा ज्ञान–स्वरूप ही रहता है और वही ज्ञान–ज्ञेय पदार्थों को प्रतिसमय प्रतिबिम्बित करता हुआ ज्ञेय–स्वरूप (ज्ञेयाकार) परिणमन करता रहता है। समय प्रतिबिंबित करता हुआ ज्ञेय–स्वरूप उस समय वह अतत्–स्वरूप यह आत्मा का तत्– स्वभाव (धर्म) है और प्रतिसमय दर्पण की तरह ज्ञेयाकार होना आत्मा का अतत्–स्वभाव (धर्म) है। इसप्रकार एक ही समय में वह तत्–अतत्–स्वरूप है।

एक–अनेक – एक ही वस्तु को यदि भेद किए बिना देखा जाये, तो वह सदा एकरूप ही प्रतीति में आती है, जैसे घट–पदार्थ में यदि घट–अवस्था को गौण करके देखें तो एकरूप मिट्टी ही दिखाई देती है, यह पदार्थ का 'एक' नामक धर्म है। और उस एक ही पदार्थ को यदि गुण और पर्या की अपेक्षा देखा जाये तो उसमें अनेकरूपता दृष्टिगत होती है। जैसे मिट्टी को नानारूपों से देखें, तो वह घड़ा, सकोरा आदि रूपों से उसमें अनेकरूपता प्रगट अनुभव में आती है। इसप्रकार जगत् को प्रत्येक पदार्थ एकानेकात्मक है। पदार्थ को यदि सर्वथा एकरूप ही स्वीकार किया जाये, तो गुण और पर्याय का उसमें अभाव हो जाने से

उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा; क्योंकि पदार्थ की पहचान गुण और पर्यायों से होती है और गुण-पर्यायों की विशेषताओं के कारण ही वह सदा सक्रिय रहता है। अतः स्वभावों का अर्थात् गुण-पर्यायों का अभाव हो जाने पर स्वभाववान् अर्थात् द्रव्य का भी विनाश हो जायेगा। जैसे उष्णता अग्नि का एक स्वभाव है, अग्नि द्रव्य है और उष्णता उसका गुण है, यदि हम उष्णता के अभाव में अग्नि की कल्पना करें, तो वह कल्पना मिथ्या होगी; क्योंकि जगत् में ऐसी कोई अग्नि नहीं मिल सकती कि जिसमें उष्णता न हो।

यदि पदार्थ को सर्वथा अनेकरूप ही अर्थात् केवल गुण-पर्यायरूप ही माना जाये, तो आधार के बिना आधेय का अस्तित्व असंभव होगा। जैसे अग्निरूप आधार के बिना उष्णतारूप आधेय अर्थात् गुण नहीं रह सकेगा। अग्नि से पृथक् होकर उष्णता जगत् में नहीं रह सकती और उसकी कल्पना भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि अग्नि द्रव्य और उसकी उष्णता, दाहकता, पाचकता और प्रकाशकता आदि गुण सदा अग्नि के साथ ही रहते हैं अर्थात् वे अग्निमय ही होते हैं।

दूसरी-वृत्ति यह भी है कि यदि पदार्थ को सर्वथा अनेकरूप अर्थात् केवल गुण-पर्यायरूप ही माना जाये, तो प्रत्येक ही गुण पूरा द्रव्य बन जायेगा। जैसे एक ही अग्नि उष्णता, दाहकता आदि अनेक-गुणों को धारण किए रहती है, किन्तु केवल अनेकरूप ही स्वीकार करने में अग्नि के एकत्व का विनाश हो जाने के कारण उष्णता, दाहकता आदि सभी 'द्रव्यत्व' संज्ञा को प्राप्त हो जायेंगे।

वस्तु में अनंत-धर्मों के रहने की एक सुव्यवस्थित-पद्धति

अनेकान्त के अनन्त-धर्म परस्पर-विरुद्ध होते हुए भी वस्तु में विरोध उत्पन्न नहीं करते, वरन् अविरोधरूप से वस्तु में प्रतिष्ठित

रहकर वस्तु में वस्तुत्व को बनाये रखते हैं। वस्तु के स्वरूप में जो विद्यमान नहीं है, इसप्रकार के भिन्न-भावों को भी विरुद्धता कहते हैं, किन्तु वस्तु के चतुष्टय से बाहर रहनेवाले सभी भाव अथवा सभी द्रव्य विरुद्ध होते हुए भी वस्तु में कभी प्रविष्ट नहीं होते; क्योंकि उन विरुद्धताओं का वस्तु में सदा ही नितान्त-अभाव रहता है। इसलिए वस्तु की रचना करनेवाले परस्पर-विरुद्ध अनन्तधर्म ही अनेकान्त में गर्भित होते हैं। वस्तु से भिन्न-भावों का वस्तु में सद्भाव मानना ऐसा अनेकान्त का प्रयोजन कभी भी नहीं होता। जैसे आत्मा जीवत्व के अस्तिरूप जड़त्व के नास्ति है, किन्तु जीवत्व के अस्तित्व की भाँति वह जड़त्व के अस्तित्वरूप कभी भी नहीं होता। अनेकान्त के परस्पर-विरुद्ध धर्मों को सापेक्ष-धर्म भी कहते हैं, वह इसलिए कि उनके परस्पर-विरुद्ध होने से अनेक-अपेक्षायें, जिनको 'नय' भी कहते हैं, वे प्रवर्तित होती है। अनेकान्त के सापेक्ष-धर्म का अर्थ यह नहीं है कि वे धर्म एक-दूसरे की अपेक्षा रहकर एक-दूसरे के आधार रहते हो, किन्तु अनेकांत का प्रत्येक धर्म एक-दूसरे की मदद, अपेक्षा अथवा आधार के बिना निरपेक्षरूप से वस्तु में विद्यमान रहता है। यदि धर्मों को एक-दूसरे के आश्रित स्वीकार किया जाये, तो वस्तु की स्वाधीनता समाप्त हो जायेगी।

अनेकांत का कुछ महत्त्वपूर्ण-तथ्यों द्वारा विचार करते हैं-

1. अनेकान्त (वस्तु, ज्ञान, शब्द)

वस्तु—वस्तु स्वयं अनेकान्तरूप है।

ज्ञान—वस्तु के अनन्त-धर्मों को ज्यों का त्यों जाननेवाला ज्ञान भी अनेकान्तात्मक है।

शब्द—अनेकान्तात्मक-वस्तु को कहनेवाले शब्द भी अनेकान्तात्मक होते हैं।

2. अनैकान्तिक-ज्ञान का आधार

ज्ञान की प्रामाणिकता—ज्ञान वही सही होता है जो वस्तु का आधार लेकर ज्यों का त्यों उत्पन्न हो तथा वह अनेकान्तरूप ही है, वस्तुस्थिति के विरुद्ध जाननेवाला ज्ञान 'अप्रमाण' कहलाता है।

3. अनैकान्तिक अर्थात् प्रमाणज्ञान

अनेकान्त प्रमाणज्ञान—अनेकान्त का दूसरा नाम प्रमाणज्ञान।

4. प्रमाण का लक्षण और भेद

प्रमाण का लक्षण—जो ज्ञान अनेकान्त-स्वरूप अर्थात् अनन्त-धर्मात्मक वस्तु में भेद किये बिना अखंड-भाव से वस्तु को विषय करता है अथवा जानता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

प्रमाण के भेद—प्रमाणज्ञान के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान।

ये सभी ज्ञान पदार्थ को अखण्ड-भाव से ग्रहण करते हैं, प्रमाण के इन पाँच-भेदों में से श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चार-ज्ञान में भेद प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें प्रवृत्ति सदा अभेदरूप अर्थात् प्रमाणरूप होती है, केवल श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति दो रूप होती है—1. प्रमाणरूप, 2. नयरूप।

1. श्रुतप्रमाण—श्रुतप्रमाण के दो रूप—1. प्रमाण और 2. नय।
2. नय का लक्षण
3. नयज्ञान (सापेक्षवाद अथवा स्याद्वाद)
4. नयज्ञान की प्रवृत्ति व उसकी आवश्यकता

1. प्रमाण के दो रूप–श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति दो रूप में होती है अर्थात् श्रुतज्ञान की वस्तु को जानने की पद्धति दोप्रकार की है। पहला प्रमाणरूप अर्थात् अखंडभाव से, दूसरा नयरूप अर्थात् भेद–प्रवृत्ति द्वारा।

2. नय का लक्षण–1. 'श्रुतविकल्पाः नयाः' श्रुतप्रमाण के एक अंश (विकल्प) को 'नय' कहते हैं। 2. 'ज्ञातुरभिप्रायो नयः' ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। 3. वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं, उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता लेकर जो साध्य पदार्थ को जानता है, कहता है, उसे 'नय' कहते हैं।

नय के भेद - नय के मुख्य दो भेद हैं - निश्चय एवं व्यवहार।

निश्चयनय - जो ज्ञान वस्तु के निजभाव को वस्तु का निजभाव कहता है, उसे निश्चय नय कहते हैं। जैसे मिट्टी का घड़ा।

व्यवहार नय - जो नय निमित्त अथवा प्रयोजन के अनुरोध से वस्तु के निजभाव को अन्य वस्तु का भाव अथवा कर्ता–कर्म कहता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैसे मिट्टी के घड़े को कुम्हार का घड़ा कहना।

निश्चय नय के दो भेद हैं - द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक - जो नय द्रव्य पर्याय स्वरूप वस्तु में एक सामान्यरूप द्रव्यांश को विषय करे उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

पर्यायार्थिक नय - जो नय द्रव्य पर्याय स्वरूप वस्तु में विशेष (गुण–पर्याय) को विषय करे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों द्वारा वस्तु का जो समग्र ज्ञान होता है, वही प्रमाणज्ञान है।

व्यवहारनय अथवा उपनय – अभिप्राय के अनुसार व्यवहारनय का उपयोग अभिन्न एक वस्तु तथा भिन्न दो वस्तुओं में भी किया जाता है, अत: उसके चार भेद हो जाते हैं –

1. सद्भूत उपचरित व्यवहार नय, 2. सद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय, 3. असद्भूत उपचरित व्यवहारनय, 4. असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय।

1. सद्भूत उपचरित व्यवहारनय – जो नय अनादि सहित गुण–गुणी को भेदरूप ग्रहण करे जैसे जीव के मतिज्ञानादि गुण।

2. सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय – जो नय निरुपाधिक गुणगुणी को भेदरूप ग्रहण करे जैसे जीव के केवलज्ञानादि।

3. असद्भूत व्यवहारनय – जो नय अत्यंत भिन्न दो पदार्थों को अभेदरूप ग्रहण करे। जैसे वस्त्र आभरण आदि को जीव कहना।

4. असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय – जो नय संयोग संबंधमय दो पदार्थों के संबंध को विषय करे जैसे जीव का संयोग संबंधमय दो पदार्थों के संबंध को विषय करे जैसे जीव का शरीर। शरीरादि जीव की सत्ता में नहीं है इसलिए असद्भूत और जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध वाले हैं, अत: अनुपचरित कहलाते हैं।

व्यवहारनय से किये गये कथन में ऐसा नहीं है वरन् निमित्त अथवा प्रयोजनवश ऐसा उपचार किया है ऐसा निश्चय करना चाहिए। अतएव निश्चय नय को सत्यार्थ भूतार्थ एवं व्यवहारनय को असत्यार्थ अभूतार्थ कहा गया है। सद्भूत व्यवहारनय से जो मतिज्ञानादि अथवा केवलज्ञानादि को आत्मा का कहा जाता है, वहाँ आत्मा तो ज्ञानानंद–

स्वरूप चिन्मात्र ध्रुव तत्त्व है ऐसे निश्चय शुद्ध स्वभाव को विषय करने वाले शुद्ध निश्चय नय से उसका निषेध करना चाहिए।

3. नयज्ञान को सापेक्षवाद अथवा स्याद्वाद भी कहते हैं और उसका एक नाम सम्यक्-एकान्त भी है। सापेक्षवाद अथवा स्याद्वाद की प्रवृत्ति वस्तु में विद्यमान-धर्मों अथवा वस्तुस्थिति के आधार पर होती है, तभी वह ज्ञान सच्चा कहलाता है। मनोकल्पना के आधार पर असत्य में भी सत्य का अनुसंधान करने की प्रवृत्ति अथवा सत्य-असत्य में समन्वय करने की प्रवृत्ति स्याद्वाद अथवा सापेक्षवाद नहीं होती। जो चीज वस्तु में है ही नहीं, उसकी असत्-कल्पना को ज्ञान नहीं कहा जा सकता, इसलिए असत्-कल्पनाओं के आधार पर प्रवर्तमान अन्य सापेक्षवाद जैसे आइंस्टीन कहता है - वह जैनदर्शन का विषय नहीं है। किन्तु वस्तु में विद्यमान जो धर्म है, उनमें से क्रमशः एक-एक धर्म को वस्तु में अनन्त-धर्मात्मकता की स्वीकृतिपूर्वक जानता है, वह नय अथवा सापेक्षवाद कहलाता है। उस समय वस्तु के अन्य-धर्म वस्तु में समानरूप से विद्यमान रहकर मात्र ज्ञान में गौण हो जाते हैं और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के समय ज्ञान में नय और प्रमाण एक साथ पैदा होते हैं, आगे-पीछे नहीं। श्रुतज्ञान की पर्याय एक समय में एक ही प्रकार के उपयोगरूप अर्थात् या तो प्रमाणरूप होती है या नयरूप।

मोक्षमार्ग की प्रयोग पद्धति में एकमात्र त्रैकालिक ज्ञाननय स्वभाव ही शरणभूत होता है क्योंकि पर्याय क्षणिक विकारी होने के कारण उसके आश्रय से ध्रुव आनंद की सृष्टि नहीं हो सकती एवं विकार के आश्रय से कभी निर्विकार नहीं हो सकती।

5. नयज्ञान की प्रवृत्ति उसकी आवश्यकता और उसकी

उपयोगिता–वस्तु में जितने धर्म होते हैं, उतने ही नय होते हैं और उतने ही मिथ्यामत होते हैं। वस्तु में विद्यमान अनन्त-धर्मों को दृष्टि में न रखकर किसी एक ही धर्म के आधार से अर्थात् वस्तु को केवल एक-धर्मात्मक अथवा कुछ-धर्मात्मक मानकर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है, वह 'मिथ्या-नय' अथवा 'नयाभास' कहलाता है।

इसलिए नय-ज्ञान की प्रवृत्ति में वस्तु के धर्मों का आधार अत्यन्त-आवश्यक है और साथ में अनन्त-धर्मों की भी। नय की जो 'सापेक्षवाद' संज्ञा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि एक नय दूसरे नय की अपेक्षा रखता हो अथवा वस्तु का एक धर्म दूसरे धर्म की अपेक्षा। किन्तु उसका अर्थ यह है कि वह एक साथ में वस्तु में विद्यमान परस्पर-विरुद्ध अनेक-अपेक्षाओं/अनन्त-धर्मों में से केवल एक ही धर्म की अपेक्षा लेकर वस्तु का विवेचन करता है, अतः वह 'सापेक्षवाद' या 'स्याद्वाद' कहलाता है। स्याद्वाद का अर्थ भी यही है कि (स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना या जानना) किसी एक अपेक्षा से वस्तु का ज्ञान करना अथवा कथन करना।

वस्तु को जानने के लिए नयज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि धर्म को जाननेवाले नय का भी यही नाम होता है, जो धर्म का होता है, जैसे अस्तिधर्म को जाननेवाला 'अस्तिनय'। तत्-पने का अर्थ है वही का वही रहना। अतत् याने प्रतिसमय नया-नया। नित्यपना अर्थात् अनादि-अनन्त ज्यों का त्यों। अनित्यपना अर्थात् प्रतिसमय नष्ट होना।

पदार्थ में अगर नास्तिधर्म न माना जावे, तो सब पदार्थ एक हो जावें। जैसे अग्नि कहने में सब पदार्थ हैं और नास्ति-धर्म न हो, तो जो घट है, वही पट हो जायेगा। नास्ति-धर्म के कारण ही जो घट है, वह पट नहीं होता; जो पट है, वह घट नहीं होता।

प्रमाणज्ञान के द्वारा यदि वस्तु को केवल अखंड–भाव से जान लिया जाये और उसके सम्बन्ध में उसके विशेषता से जानने के लिए उत्पन्न हुई जिज्ञासा यदि नयज्ञान के द्वारा संतुष्ट न हो, तो वस्तु में आस्तिक्य– बुद्धि नहीं हो पायेगी अर्थात् वस्तु का विश्वास नहीं हो पायेगा। यही नयज्ञान की सर्वोपरि–उपयोगिता है।

6. प्रमाण–नय के प्रयोग–अनन्त–धर्मात्मक वस्तु को जिससमय हम प्रमाणज्ञान का (प्रमाण का प्रयोग) अथवा अनेकान्त का विषय बनाकर उसका विवेचन करते हैं, तो उसमें प्रत्येक धर्म के साथ 'भी' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे अस्ति–नास्ति भंगों के द्वारा यदि हम वस्तु को एक ही साथ कहना चाहें, तो इसप्रकार कहेंगे "वस्तु अस्तिरूप भी है और नास्तिरूप भी है"–यह प्रमाणरूप अथवा अनेकान्तरूप प्रयोग है।

नय का प्रयोग–जिससमय ज्ञान वस्तु के किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु को जानता है अथवा विवेचन करता है, उससमय उस ज्ञान अथवा नय की अपेक्षा से वस्तु उस धर्मस्वरूप ही कही जाती है। इसप्रकार नयज्ञान में एक ही धर्म की अपेक्षा होने के कारण 'ही' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे अस्ति–धर्म की अपेक्षा से देखें, तो पदार्थ अस्ति–स्वरूप ही भासित होता है अथवा अस्ति–स्वरूप ही कहा जाता है। यदि पदार्थ को अस्ति–स्वरूप कहते समय उस नय की दृष्टि में अग्नि धर्म न हो और उस अस्ति–धर्म की अपेक्षा बिना ही यदि वह समग्र–पदार्थ को ही अस्ति–स्वरूप कहें, तो अपेक्षा का परित्याग करके निरपेक्ष हो जाने के कारण वह नय मिथ्या हो जायेगा। नय के प्रयोग में किसी अपेक्षा से वस्तु को जानते समय यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने लगें, जैसा प्रायः नय की अजानकारी

के कारण किया जाता है, तो वह नय मिथ्या हो जायेगा। नय केवल एक ही धर्म के सहारे चलता है, इसलिए जैसे नित्यनय से पदार्थ नित्य ही है, वैसे नित्यनय से उसे अनित्य भी कह दिया जाये, तो नय का प्रयोग गलत हो जायेगा, इसलिए नित्य धर्म की अपेक्षा में नित्यनय से पदार्थ नित्य ही है और अनित्यनय पदार्थ अनित्य ही है—यह नय का सही-प्रयोग है।

'प्रमाण' भेद से अभेद की ओर ले जाता है और 'नय' अभेद से भेद की ओर ले जाता है।

सम्यक्-अनेकान्त—शुद्ध भाव से मोक्ष होता है, शुभ भाव से नहीं होता। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक स्वीकार करना सम्यक् अनेकान्त है। जैसे जीव स्व-जीवत्व में अस्तिरूप भी है और अपने में अजीवत्व के अभाव से नास्तिरूप भी है।

मिथ्या-अनेकान्त—वस्तुस्वभाव के विरुद्ध वस्तु में अनन्त-धर्मों की स्वीकृति मिथ्या-अनेकान्त है, जैसे जीव-जीवरूप भी है और जीव-अजीवरूप भी है।

नय के दो रूप—नय एकान्त भी होते हैं, उसके दो भेद हैं—सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त।

सम्यक्-एकान्त—प्रमाणज्ञान के द्वारा वस्तु में अनन्त-धर्मों की स्वीकृति-पूर्वक वस्तु को एक-धर्मरूप ही देखना सम्यक्-एकान्त है। जैसे—पदार्थ नित्य ही है।

मिथ्या-एकान्त—वस्तु के अनंत धर्मों की स्वीकृति न कर एक धर्म जितना ही पूर्ण वस्तु को देखना - जैसे पदार्थ अनित्य ही है।

स्याद्वाद - स्याद्वाद अनेकांत की शब्दात्मक अभिव्यक्ति है।

वस्तु के अनंत धर्म एक ही समय में वचनगोचर नहीं हो सकते क्योंकि शब्द में ऐसी शक्ति नहीं है, अतः शब्द अनेकांत की क्रमिक विवेचना करता है। इस क्रमिक विवेचन में यदि अपेक्षा वाचक स्यात् शब्द का प्रयोग न हो तो समग्र वस्तु एकांत विवक्षित धर्मरूप ही प्रतीत होगी और श्रोता की दृष्टि में वस्तु के अन्य धर्मों का लोप हो जायेगा। इसलिए 'स्याद्वाद' वचन 'स्यात्' पद लांछित होता है, वस्तु के परस्पर विरुद्ध दो धर्मों से ही सप्तभंगीरूप स्याद्वाद की सृष्टि हो जाती है और सप्त भंगी की सिद्धि होते ही ज्ञान और वस्तु के सप्त भंग अर्थात् ज्ञान के सप्तनय और वस्तु के सप्त धर्मों का सहज उदय हो जाता है। जैसे अस्ति-नास्ति नामक दो धर्मों के आधार से सप्तभंगी की रचना देखिये -

सप्तभंगी—वस्तु में विद्यमान परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों के आधार से वस्तु में एक ही समय में सात-प्रकार की विशेषतायें परिलक्षित होती हैं, उसे 'सप्तभंग' अथवा 'सप्तभंगी' कहते हैं। जैसे अस्ति-नास्ति-भंग के आधार से सात भंग इसप्रकार प्रगट होते हैं।

पहला 'स्यात्-अस्ति'—अस्तिधर्म की अपेक्षा पदार्थ अस्ति-स्वरूप है।

दूसरा 'स्यात्-नास्ति'—नास्तिधर्म की अपेक्षा पदार्थ नास्ति-स्वरूप है।

तीसरा 'स्यात्-अस्ति-नास्ति'—पदार्थ एक ही समय में अस्ति-नास्ति-स्वरूप है।

चौथा 'स्यात्-अवक्तव्य'—अस्ति और नास्ति-धर्मों को, जो वस्तु में एक ही साथ रहते हैं, एक ही साथ कह सकना असम्भव होने से वस्तु अवक्तव्य है।

पाँचवाँ 'स्यात्-अस्ति-अवक्तव्य'–पदार्थ एक ही समय में अस्ति-धर्म की अपेक्षा अस्तिरूप और सभी धर्मों को एक साथ न कहा जा सकने की अपेक्षा अवक्तव्य है।

छठा 'स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य'–पदार्थ एक ही समय में नास्ति-स्वरूप और एकसाथ न कहा जा सकने की अपेक्षा अवक्तव्य है।

सातवाँ 'स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य'–पदार्थ एक ही समय में अस्तिरूप व नास्तिरूप तथा अवक्तव्य है।

अनेकान्त एवं स्याद्वाद की जीवन में उपयोगिता–स्याद्वाद अथवा अनेकान्त-सिद्धांत का प्रयोजन एकांत-मान्यताओं के आधार से उत्पन्न हुई मिथ्यादृष्टियों का समन्वय करना नहीं है, किन्तु अपनी दृष्टि में पड़ी हुई उसप्रकार की मिथ्या-मान्यताओं का वस्तुस्वभाव के आधार से परिहार करना है, जो मान्यता वस्तु को मात्र एकरूप ही स्वीकार करती है, वह स्याद्वाद की दृष्टि से कभी भी सही नहीं हो सकती है, इसलिए उस मान्यता में सत्य के थोड़े भी अंश का अनुसंधान स्याद्वाद को मान्य नहीं है; क्योंकि उस मान्यता में सत्य कहीं भी किसी भी रूप में वस्तु स्वभाव का आधार न होने के कारण तथा मनोकल्पना की मुख्यता होने से कहीं भी विद्यमान नहीं है। इसलिए जीवन में स्याद्वाद अथवा अनेकान्त की सर्व-महान् उपयोगिता यह होगी कि वस्तु में विद्यमान अनन्त-धर्मों को विश्वास में लेकर वस्तु की स्वतंत्र-स्थिति न समझकर हम अपनी पराधीनताओं का अन्त करें; क्योंकि अनेकान्त की दृष्टि में सभी पदार्थ एकदम स्वतंत्र हैं, इसलिए दो पदार्थों में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। इस स्वतंत्रता में दो पदार्थों में परस्पर माना जानेवाला कारण-कार्य-भाव भी अत्यन्त निरस्त हो जाता है, जीवन में अनेकान्त का उदय अपनी

स्वाधीनता की घोषणापूर्वक ही होता है। व्यक्ति स्वयं जगत् से निर्भय हो जाता है और जगत् भी उससे निर्भय। मानो अनेकान्त का उदय जगत् को एक बड़ा भारी अभयदान है, अपने विकार और निर्विकार अपने तक ही सीमित रह जाते हैं और उनके कारणों का अनुसंधान भी अपने में ही होने लगता है। अनेकान्त के वरदान-स्वरूप प्राप्त हुआ अमरता का विश्वास प्राणी को देह के रूपान्तरों से होने वाले अनन्त-क्लेशों से बाहर निकाल देता है, प्राणी मानो निर्भयता का पुतला बन जाता है और किसी की सहायता अपेक्षा न रखकर अपनी मुक्तिपथ की रचना अपने स्वतंत्र-पौरुष से करता है।

इस प्रकार वस्तु में अनन्त-धर्म और ज्ञान में अनन्त-नय विद्यमान होने पर भी उनकी गणना करते रहना अथवा उनका विकल्प कर-करके थकते रहना भी अनेकान्त का प्रयोजन नहीं है; किन्तु उसका विशुद्ध-प्रयोजन जीवन के लिए यह है कि अनन्त-धर्म और गुणों के वैभव से अलंकृत जो आत्मवस्तु है, उसकी अनन्त-नयों के विकल्पों से पार होकर अखंड एक ध्रुव-अविनश्वर सत्ता थी। उसकी अनुभूति कर, उसके आनंद में सदा के लिए निर्मग्न हो जावें—यही अनेकांत का सुंदर-फल होता है।

सचमुच अनेकांत न्यायाधीश है जो अपनी सूक्ष्म चैतन्य रश्मियों से जगत् के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करता है। वह जगत की बाह्य एवं अभ्यन्तर स्थिति के दिग्दर्शन पूर्वक वस्तुतत्त्व की स्वाधीनता की घोषणा करता है। दो वस्तु में कार्य की भ्रांति चलती आ रही है, अनेकांत उसका उन्मूलन कर देता है। पर्याय दृष्टि के व्यामोह के कारण जब आत्मा अपने रागादि दोषों से अपना भेद ही नहीं कर सकता, तब अनेकांत शुद्ध चैतन्य सामान्य के आविर्भाव पूर्वक

समस्त रागादि को परपदार्थ की भांति से ज्ञेय कोटि में स्थापित कर आत्मा में वीतराग भाव को जन्म देता है। रागादि दोषों को ज्ञेय कोटि में विकल्पों की पुनरावृत्ति होना नहीं है। स्वभाव की सन्मुखता में स्वतः ही उपेक्षित होकर उनका क्षय होता है। ज्ञान में अनेकांत का उदय होते ही जीव में शुद्धनय का उदय होता है। नयचक्र में आचार्यश्री देवसेन की इसी आशय की निम्न पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं –

"निश्चयनयतो एकत्व को प्राप्त करने के साथ ज्ञानस्वरूप चैतन्य में स्थापित कर परमानंद को उत्पन्न करता हुआ वीतराग करके स्वयं निवृत्त होता हुआ उसे (आत्मा को) नयपक्ष से अतिक्रांत करता है, इसलिए यह उत्तम प्रकार से पूज्य है।"

अनेकांत की जीवन में उपयोगिता के संबंध में तत्त्वदृष्टा श्रीमद् राजचन्द्र की ये पंक्तियाँ भी चिर स्मरणीय हैं – "अनैकांतिक मार्गपण सम्यक् एकांत-ऐवा निज पद की प्राप्ति सिवाय बीजा कोई हेतु ए कार्यकारी नथी।"

अंत में अनेकांत जीवन दर्शन है। जीवन की व्याख्या है। वह जीवन कला है, जो जीना सिखाती है। जीवन में जब उसका उदय होता है तो अनादि से छाई अज्ञान तमिस्रा व्यतीत होकर चैतन्य-लोक में यह महामंगलमय प्रयाण होता है कि जिसका उदय अनंत होता है और जिसकी दिव्य किरणों से निखिल विश्व आलोकित हो उठता है।

❁❁❁

निमित्त-उपादान (प्रथम-आलेख)

'**उ**पादान' और 'निमित्त' के विषय में बड़े प्रश्न होते हैं। लोग कहते हैं ''जैनदर्शन की व्यवस्था अनैकांतिक है, अतः कार्य की उत्पत्ति उपादान से ही स्वीकार की जाये, तो 'एकांत' का प्रसंग आता है। अतएव कार्य की उत्पत्ति में निमित्त का भी सहयोग स्वीकार करना पड़ेगा। उपादान से भी कार्य होता है और निमित्त से भी—ऐसा मानने में 'एकांत' का भी प्रसंग नहीं आता और अनेकांत की भी रक्षा हो जाती है।'' इसलिए लोग कार्य की उत्पत्ति में पचास-प्रतिशत 'उपादान' और पचास-प्रतिशत 'निमित्त' का योग मानकर उक्त-प्रश्न का हल निकाल लेते हैं।

यह प्रश्न करते समय हम इस बात को भूल जाते हैं कि 'निमित्त' और 'उपादान' दो भिन्न-पदार्थ हैं। दोनों की सीमायें और कार्यक्षेत्र भी भिन्न हैं। जिससमय 'उपादान' में कोई कार्य उत्पन्न होता है, उससमय 'निमित्त' 'स्व-कार्य' रत रहकर ही 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होता है, न कि अपना कार्य छोड़कर वह 'उपादान' के कार्य में योगदान करने लग जाता है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाये, तो या तो उपादन-निमित्त को एक ही पदार्थ स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि यदि यह अपना कार्य छोड़कर उपादान का कार्य करने लग जाये, तो फिर वह निमित्त ही कहाँ रहा, वह तो उपादान बन गया अथवा उपादान को अपना कार्य उत्पन्न करने में अक्षम मानना पड़ेगा। अथवा निमित्त

किसी समय अपना कार्य छोड़कर उपादान का कार्य करने लग जाये, तो इसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त नामक पदार्थ उससमय स्वकार्य-विहीन हो गया—ये तीनों ही बातें असंगत हैं; क्योंकि कोई पदार्थ कभी स्वकार्य (पर्याय)-विहीन होता ही नहीं है। जब वह स्वकार्य-विहीन नहीं होता और एकसमय में पदार्थ में एक ही कार्य होता है, तो स्वकार्य के समय परकार्य कैसे कर सकता है ? तथा 'उपादान' नामक पदार्थ स्वकार्य में निमित्त के सहयोग के बिना अक्षम भी नहीं होता; क्योंकि विश्व का अणु-अणु प्रतिसमय अपना कार्य करने में सक्षम है; क्योंकि कार्योत्पादक अनंत शक्तियाँ प्रत्येक द्रव्य में सदा विद्यमान रहती हैं और वे अनंत-शक्तियाँ ही प्रत्येक द्रव्य में अनादि-अनंत नियत-क्रम में होनेवाले कार्यों की नियामक हैं, कोई दूसरा पदार्थ नहीं।

कार्य की उत्पत्ति में निमित्त का योग स्वीकार न करने पर एकांत का प्रसंग आता हो, ऐसी बात नहीं है। अनुकूल-विद्यमानता के अर्थ में तो निमित्त का योग निमित्त-उपादान-संबंध में सदा ही स्वीकृत होता है और व्यवहार-नयात्मक कथन में ये सदा ही उपादान 'गौण' और निमित्त 'मुख्य' रहता है। यहाँ तक कि उपादान में स्वशक्ति से निरपेक्ष-भाव से उत्पन्न-कार्य के कर्तृत्व का संपूर्ण-श्रेय ही 'कुंभकार ने घट बनाया' तथा 'कुम्हार न होता तो घड़ा कैसे बनता' आदि शिष्टाचार तथा सम्मानपूर्ण वाक्य-रचना के द्वारा निमित्त को ही दिया जाता है; क्योंकि 'व्यवहारनय' का वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करने का अपना ढंग निराला ही है। अतः निमित्त का कर्तृत्व, योग अथवा सहायता व्यवहार-नयात्मक ढंग से स्वीकार करने पर भी निमित्त-उपादान की नितांत-भिन्नतारूप अनैकांतिक-व्यवहार में कोई अंतर नहीं आता।

अनेकांत की कसौटी पर कसने पर दो भिन्न-पदार्थों के रूप में

निमित्त–उपादान में परस्पर सर्वांगीण–नास्ति स्वीकार करनी पड़ती है। एक वस्तु–स्वरूप अर्थात् 'स्वचतुष्टय' से 'अस्तिरूप' हो और 'परचतुष्टय' से 'नास्तिरूप'—यह अनेकांत है। यह अस्ति–नास्ति सर्वांगीण–भाव से हो अर्थात् स्वचतुष्टय की 'अस्ति' ऐसी हो कि पदार्थ कभी किसी क्षण में भी परमुखापेक्षी न हो और 'नास्ति' ऐसी हो कि वह पदार्थ कभी पर से बाधित अथवा लाभान्वित न हो। अनैकांतिक–शासन में वस्तु की ऐसी कसावटमय–व्यवस्था होने के कारण ही हीनतम–दशाओं और अनंत–निमित्तों में होकर जीवनयात्रा करनेवाला प्रत्येक पदार्थ अनादि–अनंत, अक्षुण्ण ही बना रहता है और अपनी ही शक्ति से अपना ह्रास तथा विकास करता रहता है। इसप्रकार निमित्त से उपादान में कार्योत्पत्ति मानने पर ही दो भिन्न–पदार्थों में कर्त्ता–कर्म अथवा कारण–कार्य भाव की सिद्धि होने पर दोनों के एकत्व अर्थात् दोनों में विद्यमान 'नास्ति'–धर्म के अभावपूर्वक दोनों के समान अवांतर–अस्तित्व के रूप में एंकात का प्रसंग आता है और कार्योत्पत्ति में दोनों का आधा–आधा योग स्वीकार करने पर निमित्त–उपादान का खंडभाव से ग्रहण होने के कारण न निमित्त पूर्ण रहता है और न उपादान; वरन् दोनों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। अनेकांत की छाया में निमित्त–उपादान की स्वीकृति में निमित्त भी पूरा अर्थात् शत–प्रतिशत है और उपादान भी। निमित्त को उपादान के कार्य का कर्त्ता स्वीकार करने में उपादान में क्लैव्य की आपत्ति आती है, जबकि वह कार्योत्पादन में कभी अक्षम होता ही नहीं है।

निमित्त के पक्ष में यह प्रश्न भी प्राय: होता है कि जब तक वह (निमित्त) नहीं आता कार्य नहीं होता—यह प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। वस्तु–स्वभाव ध्यान में नहीं रहता, तभी यह प्रश्न होता है। प्रथम तो

निमित्त–उपादान का सहचर तथा समकालीनता स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। 'निमित्त न आवे तो' ऐसा कभी होता हो, तो ही यह प्रश्न बनता है। कभी ऐसी स्थिति हो कि उपादान तो हो और निमित्त न हो अथवा निमित्त तो हो और उपादान न हो, तब ही 'निमित्त न आवे तो'—ऐसी शंका की जा सकती है। जब दोनों होते हैं, तभी तो उन्हें निमित्त–उपादान कहते हैं। 'निमित्त न आवे तो' इस प्रश्न में जो भी अभी आया ही नहीं है, उसे निमित्त कौन कहेगा ? तथा जब वह निमित्त बनकर आयेगा और जिस उपादान का वह निमित्त बनेगा, वह पदार्थ उसकी निमित्तता के अभाव में वर्तमान में भी कोई कार्य कर रहा है या नहीं ? कुम्हाररूप निमित्त मिलने से पूर्व क्या मिट्टी निष्क्रिय थी ? क्या कुम्हार ने ही उसे सक्रिय किया है ? क्या मिट्टी अपने गर्भ में असंख्य–पर्याय–योग्यताएँ नहीं छिपाये हैं ? वे योग्यताएँ नियत–क्रम में स्वयं अभिव्यक्त होंगी या कुम्हार क्रम–भंग करके भी इच्छानुसार उन्हें अभिव्यक्ति दे सकता है ? यदि मिट्टी में की गर्भगत–योग्यताओं को कुम्हार इच्छानुसार पर्यायक्रम–भंग करके भी अभिव्यक्ति दे सकता है, तो कुम्हार अनेक बार इच्छा करने पर भी और मिट्टी तथा दंड–चक्रादि के विद्यमान रहते भी पहले घट–निर्माण क्यों नहीं कर सकता ? घट–निर्माण इसी बेला में क्यों हुआ ? यदि बाह्य–साधनों के द्वारा किसी पदार्थ की अंतरंग–योग्यता को किसी भी समय अभिव्यक्ति प्रदान की जा सके, तो बाह्य–साधनों की समग्रता में भी लोक में निराशायें तथा असफलताएँ क्यों होती हैं। बाह्य–साधनों की न्यनूता में भी एक विद्यार्थी प्रथम–श्रेणी में उत्तीर्ण होता है और उनकी प्रचुरता में भी एक बुरीतरह असफल हो जाता है। तीर्थंकर के समवसरण जैसे अगणित बाह्य–साधन मिल जाने पर भी आत्मा अब तक संसारी क्यों हैं ? तथा बाह्य–साधनों की समग्रता होने पर भी द्रव्यलिंगी को ऐसी क्या कमी

रह गई कि उसे आत्मज्ञान नहीं हो पाया? इस प्रश्नावली का एक ही समाधान है कि 'उपादान' की योग्यता (पर्याय) की अभिव्यक्ति के अभाव में बाह्य-साधनों को 'निमित्त' कहते ही नहीं हैं और जब 'उपादान' योग्य होता है, तो पहिले जो पदार्थ विद्यमान होते हुए भी 'निमित्त' नहीं कहलाते थे, अब उन्हीं को 'निमित्त' और यहाँ तक कि व्यवहारनय से 'कर्त्ता' की संज्ञा भी प्राप्त हो जाती है।

यह भी कहा जाता है कि जब निमित्त से कार्य ही नहीं होता, तो फिर उसका नाम ही क्यों लिया जाता है? शास्त्रों में उसका लंबा-चौड़ा वर्णन भी क्यों किया जाता है?

एक प्रश्न है यह, जो प्राय: सभी को उत्पन्न हो सकता है। अज्ञानदशा में आत्मा अनादिकाल से अनंत-अनंत संयोगों के बीच रहता चला आया है और उन संयोगों में उसकी ममता भी रही है। उन पर उसे अहंकार भी रहा है। पर अज्ञ-दशा में वह कभी यह नहीं पहचान पाया कि वास्तव में ये संयोग कौन हैं, वह स्वयं कौन है? इस तथ्य का रहस्योद्घाटन आगम करता है। इसीलिए आगम में स्वतत्त्व से भिन्न-तत्त्व के रूप में निमित्त का वर्णन होता है। यदि कहीं प्रसंगवश निमित्तों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी मिलती हो, तो भी वह अनुपादेय-तत्त्व के रूप में ही प्रशंसा पाता है। जैसे एक रोगी औषधि पीना भी चाहता है, औषधि की प्रशंसा भी करता है, पर यह सब अपनी रुग्ण-दशा तक और वह भी अनुपादेय-दृष्टिपूर्वक। इसीप्रकार साधक संसार-दशा में निमित्तों की प्रशंसा भी होती है, चाह भी होती है, पर अनुपादेय-दृष्टिपूर्वक। लोक में भी विष और अमृत—दोनों का वर्णन होता है, पर अमृत की उपादेयता और विष की हेयता ही वहाँ साध्य होती है। इसीप्रकार निमित्तों के वर्णन में निमित्तावलम्बी बनाने का प्रयोजन नहीं

होता वरन् 'निमित्तावलम्बी' से 'स्वावलम्बी' बनाने का ही प्रयोजन होता है।

अतः निमित्त से कार्य नहीं होता, तो उसका नाम ही क्यों लिया जाये ?—यह कोई तर्क नहीं है। निमित्त से उपादान का कार्य नहीं होता, पर स्वकार्य-परायण तो वह सदा ही रहता है। अतः यदि वह उपादान का कार्य नहीं कर सकता, तो उसका वर्णन भी क्यों किया जाये ?—यह तो ऐसी बात है, जैसे कोई भिश्ती यह कहे कि यदि मुझे राजा ही न बनाया जाये तो पानी छिड़क-छिड़ककर जिंदा रहने से फायदा भी क्या ? अथवा कोई बालक यह कहे जब मुझे घर में ऊधम ही नहीं मचाने दिया जाता, तो घर में रहने से ही क्या फायदा ? निमित्त रहे, तो वह उपादान में हस्तक्षेप करके ही रहे, अन्यथा उसके रहने से भी क्या लाभ ? यह बात तर्क तथा न्यायसंगत नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वस्थान में स्वकार्यरत रहते हुए ही सुशोभित होता है।

ज्योतिष और निमित्तज्ञान की नाना-भविष्यवाणियाँ भी पदार्थों के प्रवाह-क्रम में घटित होनेवाले इस निमित्त-नैमित्तिक-संबंध की ही घोषणा करती है। किस समय कैसे योग में एक व्यक्ति की जीवन-लीला समाप्त होनेवाली है अथवा किस योग में किसी की आपत्ति का वारण होनेवाला है, ज्योतिष और निमित्त-ज्ञान, मंत्रशास्त्र, तथा औषधि आदि में किसी किसी पदार्थ की पर्यायों के व्यवस्थित-क्रम को पलटने की शक्ति नहीं है। यदि ऐसा संभव हो, तो 'मृत्यु' नाम की किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पदार्थ गुँथे हुए मोतियों के हार की भाँति अनंत-पर्यायों का एक हार है। और जैसे गुंथे हुए हार में हार के तोड़े बिना एक मोती भी इधर उधर नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार

पर्याय हार–पदार्थ से पदार्थ को तोड़े बिना अर्थात् पदार्थ के विनाश के बिना एक पर्याय भी इधर–उधर नहीं की जा सकती। और पदार्थ का विनाश तो असंभव है, अतः पर्याय का हेर–फेर भी असंभव है; वस्तुस्थिति ऐसी ही होने पर भी कोई अभिमानी अथवा ज्योतिषी अथवा मंत्रवादी पहिले से यह घोषणा करे कि अमुक–दिन अमुक–समय अमुक–व्यक्ति की जीवनलीला समाप्त हो जायेगी और फिर किन्हीं उपायों से मृत्यु के उस क्षण को टालने की भी बात करने लगे, तो यह सब प्रवंचन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। भला मृत्यु का जो क्षण एक बार ज्ञान में देखा जा चुका, उसे टालने की कथा में कितनी सच्चाई हो सकती है? अतः ज्योतिष आदि भविष्य की घटनाओं की सूचना तो कर सकती है, किन्तु उन्हें पलटने का उपक्रम नहीं कर सकती; क्योंकि वस्तुव्यवस्था ही ऐसी है कि जिस क्षण जिन निमित्तों के सद्भाव में जो कार्य होने वाला है, वही होगा; निमित्त भी वही होंगे और ज्ञान में भी वही चारितार्थ होगा।

निमित्त–उपादान–संबंध के नानारूप

एक ही पदार्थ एक ही समय में ' निमित्त ' भी होता है और ' उपादान ' भी होता है। जैसे दीपक का प्रकाश किसी व्यक्ति के पढ़ने में ' निमित्त ' है। यहाँ व्यक्ति ' उपादान ' और दीपक ' निमित्त ' है, उसी समय दीपक ' उपादान ' और तेल बाती उसके ' निमित्त ' हैं। इसप्रकार एक ही पदार्थ एक ही समय में ' उपादान ' भी होता है और ' निमित्त ' भी।

एक–निमित्त अनेक–उपादान–कभी एक पदार्थ निमित्त होता है और उपादान अनेक होते हैं; जैसे सूर्य निमित्त और जागनेवाले लोग अथवा खिलनेवाले कमल उपादान। एक अध्यापक निमित्त और अनेक विद्यार्थी उपादान अथवा धर्म या अधर्मद्रव्य निमित्त और अनेक

जीव-पुद्गल की गमन/स्थिति-क्रियाओं की दृष्टि से वे उपादान।

अनेक-निमित्त एक-उपादान—कभी एक पदार्थ उपादान होता है और निमित्त नाना होते हैं। जैसे - मिट्टी 'उपादान' और कुम्हार, दंड, चक्र 'निमित्त' तथा जैसे - एक प्राणी उपादान और उसके रक्षक सहस्त्रों लोग निमित्त।

परस्पर-निमित्त -उपादान— यात्रा को जाने वाले दो व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे के निमित्त बन जाते हैं। एक कहता है मैं तो आपके कारण ही यात्रा चल रहा हूँ, दूसरा कहता है मैं भी आपके कारण ही। इसप्रकार दोनों परस्पर एक-दूसरे के निमित्त-उपादान हैं।

प्रेरक तथा उदासीन-निमित्त—प्रेरक उन सक्रिय-निमित्तों को कहते हैं, जो उपादान में कार्योत्पत्ति के समय सचेष्ट दिखाई देते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति से कुम्हार, दंड, चक्र आदि। तथा 'उदासीन' उन निमित्तों को कहते हैं, जो उपादान में कार्योत्पत्ति के समय निष्क्रिय रहते हैं; जैसे कोई चित्र, प्रतिमा अथवा धर्म-अधर्म द्रव्यादि।

वास्तव में जिन्हें प्रेरक-निमित्त कहा जाता है, वे उदासीन-निमित्तों से कुछ भी अधिक नहीं है। कार्य की उत्पत्ति न प्रेरक-निमित्त करता है और न उदासीन। सभी द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि शुद्ध-पदार्थों की तरह ही मध्यस्थ-भाव से निमित्त-भाव को प्राप्त होते हैं। धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों में तो अपने असाधारण-धर्म गतिहेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व आदि निर्द्वन्द्व-भाव से परिणमित होते रहते हैं। अपने परिणमन में ये किसी की अपेक्षा नहीं रखते। किन्तु कोई जीव, पुद्गल अपनी योग्यता से क्रियावती-शक्ति में परिणमित होते हैं, तो गति-हेतुत्वरूप निरन्तर परिणमन करने पर धर्मद्रव्य उसका निमित्त कहलाता है। ठीक

उसीप्रकार, जैसे निर्जन के शीत–एंकात–वातावरण में शीतल–भाव में निरंतर–परिणमन करता हुआ झरना। भले ही कोई झरने के निकट आकर शीतलता का अनुभव न करे, फिर भी झरना तो अपने शीतल–भावमयी प्रवाह में निरन्तर शीतलतारूप ही परिणमित हो रहा है। धर्म–अधर्म आदि द्रव्यों में तो गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व आदि गुण होते हुए भी वे जीव–पुद्‍गल को बलात् गतिमान तथा स्थितिमान नहीं करते। हाँ। जीव–पुद्‍गल गमन करते हैं, तो धर्म के गतिहेतुत्व–गुण का परिणमन निमित्त हो जाता है। इसीप्रकार अपनी मर्यादा में परिणमन करते हुए विश्वार्थों का सहज ही निमित्त–नैमित्तिक–संबंध घटित होता रहता है। किसी में किसी की प्रेरणा अथवा कार्योत्पत्ति नहीं होती।

अनेक द्रव्यगत निमित्त–नैमित्तिक संबंध

जहाँ भिन्न–चतुष्टयवाले दो या अधिक पदार्थों में एक पदार्थ 'निमित्त' तथा शेष 'उपादान' अथवा एक 'उपादान' और शेष 'निमित्त' हों, वहाँ यह संबंध घटित होता है। जैसे आत्मा की एक राग–परिणति अनंत–कार्माणवर्गणा के बंध का निमित्त अथवा अनंत–कार्माणवर्गणा का एकसमयवर्ती–उदय आत्मा की एक राग–परिणति का निमित्त।

द्रव्यगत निमित्त–नैमित्तिक–संबंध

पं. बनारसीदासजी ने इसे आत्मा के ज्ञान और चारित्र के उदाहरण द्वारा घटित किया है। यह एक ही अखंड–पदार्थ के द्रव्य–गुण–पर्यायों में घटित होता है। जैसे आत्मा का अस्तित्व–गुण संपूर्ण–आत्मा के अस्तित्व का निमित्त इत्यादि अथवा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धारूप व्यवहार–सम्यग्दर्शन निश्चय–श्रद्धारूप निर्विकार–निश्चय सम्यग्दर्शन का निमित्त और व्रतादि–शुभविकल्परूप व्यवहार–चारित्र निश्चय–

वीतरागचारित्र का निमित्त। इसीप्रकार व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चय-मोक्षमार्ग का निमित्त।

यहाँ एक द्रव्य में भी निमित्त-नैमित्तिक-संबंध की वही स्थिति रहती है, जो स्थिति भिन्न-पदार्थगत निमित्त-नैमित्तिक-संबंध की होती है अर्थात् जैसे भिन्न-पदार्थों में कर्त्ताकर्म-भाव न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक-संबंध घटित होता है, उसीप्रकार एक-गुण और अन्य-गुणों में अथवा एक-पर्याय और अन्य-पर्याय में कर्त्ताकर्म-भाव न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक-संबंध घटित होता है। जैसे 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' और 'निश्चय-मोक्षमार्ग' में कर्त्ता-कर्म-भाव कभी नहीं है, किन्तु उनमें निमित्त-नैमित्तिक-भाव तो है। जैसे निमित्त-नैमित्तिक-भाव में भिन्न-पदार्थों में अनुकूल-सहचार रहता है, उसीप्रकार निमित्त-नैमित्तिक-भाव में 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' और 'निश्चय-मोक्षमार्ग' में सहचार रहता है। उपादान के साथ निमित्त की भाँति 'निश्चय-मोक्षमार्ग' के साथ ही 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' प्रगट होता है अथवा निमित्त के साथ उपादान की भाँति व्यवहार-मोक्षमार्ग के साथ निश्चय-मोक्षमार्ग होता है; क्योंकि ये दोनों सम्यग्दृष्टि की साधक-दशा में एक साथ उत्पन्न होते हैं और सदा साथ रहते हैं। अथवा साधक-दशा स्वयं निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्गरूप ही होती है। अत: साधक-दशा में उनके वियोग की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इनके वियुक्त होने पर या तो मिथ्यात्व-दशा फलित होती है। शुद्ध-त्रैकालिक परमपारिणामिक-भाव-स्वरूप शुद्ध-स्वभाव में तन्मय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्विकार-धारा है, उसे निश्चय-मोक्षमार्ग और शुद्ध-स्वभाव की ओर प्रेरित करनेवाले शुभ-विकल्प तथा महाव्रतादि-अनुष्ठान, जो निश्चय मोक्षमार्गरूप शुद्ध-परिणति से अलग रहकर भी उसके साथ हीयमान-

भाव से चलते रहते हैं, को व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं। जैसा लक्ष्य होता है, विकल्प भी तदनुरूप ही होते हैं। अत: शुद्ध-स्वभाव जिस साधक की अनुभूति में अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र में आ चुका है, उसी शुद्ध-स्वभाव का वह अनेकप्रकार से भेदपूर्वक विचार करता है और भेदप्रधान होने के कारण इन विचार और विकल्पों को 'व्यवहार' तथा 'निश्चय-मोक्षमार्ग' के साथ रहने और उसी के प्रति प्रेरणा देते रहने के कारण उन्हें 'मोक्षमार्ग'—इसप्रकार इन्हें 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' कहते है। इसप्रकार रत्न और डिबिया की तरह 'निश्चय' और 'व्यवहार' का सहचार रहता है और रत्नों के सहचार से जैसे डिबिया को रत्नों की डिबिया कहते हैं, उसीप्रकार निश्चय-मोक्षमार्ग के सहचार से शुभ-विकल्परूप मंद-कषाय को व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं। इसप्रकार निश्चय-मोक्षमार्ग के प्रति प्रेरणा-प्रदायक-विकल्प अर्थात् व्यवहार-मोक्षमार्ग को 'निमित्त' और उसके साथ वर्द्धमान-भाव से रहने वाली शुद्ध-रत्नत्रय-परिणतिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग को 'नैमित्तिक' कहते हैं।

जो निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्ग में कारण-कार्य-भाव अथवा कर्त्ता-कर्म-भाव स्वीकार करते हैं, वे भी भिन्न-पदार्थों में कर्त्ता-कर्म-भाव स्वीकार करने जैसी ही भूल करते है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप ही परस्पर-विरुद्ध है, तब उनमें कारण-कार्य-भाव कैसे हो सकता है? एक निर्विकार-परिणति है और दूसरी विकार-परिणति। विकार से कभी किसी परिस्थिति में निर्विकार का उत्पाद नहीं हो सकता। किन्तु विकाररूप-व्यवहार के ह्रास-पूर्वक निश्चय-निर्विकार-परिणति अभिवृद्ध होती है। अत: व्यवहार-मोक्षमार्गरूप आचरण करते-करते निश्चय शुद्ध-मुक्त-दशा प्रगट हो जाये, यह नितांत-

असंगत है। व्यवहार-मोक्षमार्गरूप राग-दशा इस बात की भी परिचायिका है कि आत्मा विकार की कितनी भूमिकाओं को पार कर चुका है ? और वर्तमान में वह राग और वीरागता की किस भूमिका में विद्यमान हैं ?

उपादान-निमित्त के संबंध में एक विकल्प यह भी किया जाता है कि पदार्थों की शुद्ध-अवस्थायें तो निमित्त-निरपेक्ष होती हैं और अशुद्ध-अवस्थायें निमित्त-सापेक्ष। किन्तु यह ठीक नहीं है, वास्तव में सभी शुद्धाशुद्ध-अवस्थायें निमित्त-निरपेक्ष और निमित्त-सापेक्ष होती हैं। निमित्त-निरपेक्ष तो इस अर्थ में होती हैं, कि निमित्त विद्यमान रहते हुए भी उन्हें निमित्त से अपने लिए कुछ लेना नहीं पड़ता। उन्हें सब कुछ अपने उपादान में से ही मिलता है। और निमित्त-सापेक्ष इसलिए होती हैं कि प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय में जगत् का कोई न कोई पदार्थ अवश्य निमित्त होता है। वास्तव में शुद्ध-पर्यायों को निमित्त-निरपेक्ष उन निमित्तों की अपेक्षा से कहा जाता है, जो अशुद्ध-दशा के निमित्त थे और शुद्ध-दशा में जिनका निमित्त के रूप में अभाव हो जाता है। फिर भी आकाश-कालादि, शुद्ध-पदार्थ तो पदार्थों की शुद्ध-दशाओं में अनंतकाल तक निमित्त बने ही रहते हैं। अशुद्ध-दशा को निमित्त-सापेक्ष कहने में यदि उसे 'निमित्तकृत' कहने का अभिप्राय निहित हो, तो इस अभिप्राय में बड़े अनर्थों को अवकाश है। जैसे आत्मा की अशुद्ध-दशा का कर्त्ता यदि सीधा कर्म को मान लिया जाये, तो आत्मा की जिस दशा के कर्तव्य का कर्म को एकाधिकार हो और उसे करने में स्वयं आत्मा की विवशता हो, तो उस विकार-दशा का क्षय करने के लिए क्या कभी कोई ऐसा अवसर आ सकेगा; जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से उसका वारण कर सके ? जो कार्य कर्म ने उत्पन्न किया है, उसके विनाश का अधिकार भी कर्म को ही प्राप्त है; अतः आत्मा कभी

मुक्त न हो सकेगा। अतः यह निर्विवाद है कि सभी अशुद्ध और शुद्ध-दशाओं में निमित्त सदा अकर्त्ता-पदार्थ के रूप में ही विद्यमान रहता है।

इस निमित्त-नैमित्तिक-संबंध के सम्यक्-बोध के अभाव में आत्मा को अनवधिकाल से निमित्त का ही आग्रह रहा है और यह दुरभिनिवेश ही संक्लेश एवं दुःख का बीज है। अज्ञान-दशा में बोधि-बीज आत्मा एकांत-निमित्त से ही कार्यसिद्धि मानकर बाह्य-साधनों को संकलित करने की अपरिमित-चेष्टायें करता है; किन्तु अनंत-जीवन बीत जाने पर भी यह विफल-प्रयास ही रहा। यह इस रहस्य को नहीं समझ पाया कि उपादान की जागृति के क्षण में निमित्त के योग की ऐसी अनिवार्यता है, जिसका अपवाद ही नहीं है। 'निमित्त उपादान का किंकर है'—इस कुतर्क को इस वस्तु-स्वभाव में अवकाश ही नहीं है। अगर उपादान जागृत न हो, तो साक्षात् तीर्थंकर का योग भी इसके सोये हुए आत्मा को जगाने में समर्थ नहीं होता। अतः निमित्त पर से दृष्टि (रुचि, श्रद्धा) हटाकर उपादान पर केन्द्रित करें, तो अनंत शुद्ध-पर्यायों का प्रवाह एक ही साथ इसके द्रव्य के ध्रुव-कोष में फूट निकलता है और उसी क्षण अपूर्व-शांति का संवेदन होता है।

निमित्त-उपादान-संबंध की इस अनैकांतिक-व्यवस्था में यह शंका करना निर्मूल है कि निमित्त को कार्योत्पादक न मानने और उस पर से दृष्टि हटाने में उसका सम्मान ही कम हो जायेगा और मोक्षमार्ग के निमित्त सच्चे-देव, शास्त्र, गुरु के प्रति आस्था ही कम हो जाएगी।

निमित्त-उपादान की अनैकान्तिक-स्वीकृति में निश्चय ही दृष्टि निमित्त-नास्ति से पलटकर सहज ही त्रैकालिक-स्वरूप (अस्ति) पर केन्द्रित हो जाती है, चिर-सुषुप्त पुरुषार्थ जाग उठता है, जगत् को कुछ भी देने अथवा जगत् से कुछ भी पाने की मिथ्या-आस्था समाप्त हो

जाती है और जगत् को अनुकूलता और प्रतिकूलता के दो वर्गों में विभाजित करने वाले मिथ्या-विश्वास का अंतिम-संस्कार हो जाता है; किन्तु उससे निमित्त की अवहेलना का प्रसंग उपस्थित नहीं होता; उस विद्यार्थी की तरह, जिसका लक्ष्य उच्च-पद की प्राप्ति होने पर भी जो अपनी पुस्तक, विद्यालय तथा अध्यापक आदि का हृदय से सम्मान करता है। इसीप्रकार साधक की भूमिका में जो राग शेष रहता है, वह मोक्षमार्ग के निमित्तों में ही तो अनुरक्त रहता है। निर्विकार अनंत-सौख्य-स्वरूप मुक्त-दशा की उत्कृष्ट-भावना को लेकर जिस मुक्ति-पथ पर वह अग्रसर होता है, उसी मुक्ति-पथ पर आरूढ, ज्ञान-चारित्र के प्रतिष्ठान और मुक्ति के निमित्त सच्चे-देव, शास्त्र, गुरु के चरणों में सदा ही उसका मस्तक रहता है और उस राग की भूमिका के उनके चरणों की धूलि से अपने मस्तक को धूलरहित करके ही वह गौरवान्वित होता रहता है।

इसप्रकार विविध-प्रकार से निमित्त-उपादान की यथार्थ-स्थिति के परिज्ञान का फल-दृष्टि से पराधीनता (निमित्ताधीनता) का बहिष्कार' तथा 'स्वाधीनता का स्वीकार' है और दृष्टि की स्वाधीनता का अंतिम-फल निर्वाण है।

❀ ❀ ❀

निमित्त-उपादान (द्वितीय-आलेख)

'**उ**पादान' और 'निमित्त' वस्तुतः किसी एक या पृथक्-पृथक् पदार्थों के कोई स्थायी नाम नहीं है, किन्तु अभिप्राय-विशेष से प्रदत्त दो संज्ञायें हैं। विश्व के सभी पदार्थों पर यह नियम लागू होता है। विश्व के सभी पदार्थ अपनी अपनी स्वाधीन-सीमा के अन्तर्गत रहते हुए भी परस्पर पृथक्-पृथक् निमित्त-उपादान-भाव की सहज-शृंखला में आते हैं। यथा-

अनन्तरपूर्व-पर्याय विशिष्ट प्रत्येक द्रव्य को 'उपादान' कहते हैं। और उपादान से होने वाले कार्यों के साथ उससे भिन्न एक या एक से अधिक अन्य जिन-पदार्थों की बाह्य-व्याप्ति होती है, उन्हें 'निमित्त' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विवक्षित-कार्य के साथ जिसकी अर्न्तव्याप्ति होती है, उसकी 'उपादान' संज्ञा है और जिसकी बाह्य-व्याप्ति होती है, उसमें 'निमित्त'-व्यवहार होता है (समयसार गाथा 84 आत्मख्याति टीका)। ऐसा वस्तुस्वभाव है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य-आभ्यन्तर-उपाधि की समग्रता होती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्दभद्र 'स्वंयम्भूस्त्रोत' में कहते हैं-

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु
ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां
तेनाभिवन्द्यस्त्वममृषिर्बुधानाम्।।

कार्यों में जो यह बाह्य और आभ्यन्तर-उपाधि की समग्रता है, वह आपके मत में द्रव्यगत-स्वभाव है। इसे यदि द्रव्यगत-स्वभाव नहीं माना जाये, तो जीवों को मोक्षविधि नहीं बनती। ऐसे अपूर्व-तत्त्व का उद्घाटन करने के कारण ही ऋषि-अवस्था को प्राप्त हुए आप बुधजनों के द्वारा अभिवंद्य हैं।

यह कार्य-कारण-परम्परा के अनुरूप वस्तु-व्यवस्था है। आगे इसी विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि जब कोई छात्र अध्ययन करता है, तो कभी विशिष्ट-क्रियायुक्त दूसरा-व्यक्ति (जिसे लोक में 'अध्यापक' कहते हैं), पुस्तक और प्रकाश आदि का उसे सान्निध्य होता है और कभी इनमें से किसी एक का और प्रदीप आदि अन्य किसी का सान्निध्य होता है। यहाँ छात्र का अध्ययन यह कार्य है, तो उसके ज्ञानगुण की विशिष्ट-अवस्था (पर्याय) है, इसलिए विवक्षित-योग्यता-सम्पन्न वह ज्ञान-गुण उस कार्य का उपादान है; क्योंकि अध्ययनरूप-कार्य का विवक्षित-योग्यता-सम्पन्न ज्ञानगुण के साथ अर्न्तव्याप्ति है, तथा विशिष्ट-क्रियायुक्त दूसरा व्यक्ति आदि 'निमित्त' है, क्योंकि अध्ययनरूप-कार्य की उन विशिष्ट-क्रियायुक्त मनुष्य आदि के साथ बाह्य-व्याप्ति है।

अब प्रकृत में विचार यह करना है कि यह छात्र का अध्ययन-कार्य हुआ है, उसका यथार्थ-कारण क्या है ? विशिष्ट-क्रिया-युक्त मनुष्य तो उसका यथार्थ-कारण हो नहीं सकता, क्योंकि उसके अभाव में भी अध्ययन देखा जाता है या उसके सद्भाव में भी अध्ययरनरूप कार्य नहीं देखा जाता। यही बात प्रकाश आदि पर भी लागू होती है। इतना अवश्य है कि जब-जब छात्र अध्ययन करता है, तब-तब इन सबका या इनमें से किसी एक का सान्निध्य अवश्य होता है। यही कारण है कि

कार्य–कारण परम्परा के विचार में दोनों विवक्षित–कार्य में विशिष्ट–अवस्थायुक्त बाह्य–सामग्री के सद्भाव को स्वीकार करके भी, उसे यथार्थ–कारण नहीं कहा। किन्तु ऐसा अनियम विशिष्ट–योग्यता–सम्पन्न ज्ञान–गुण पर लागू नहीं होता; क्योंकि यदि उस छात्र को विशिष्ट–योग्यता–सम्पन्न ज्ञानगुण प्राप्त न हो, तो विशिष्ट–क्रियायुक्त इतर–मनुष्य आदि का सान्निध्य होने पर भी उसका अध्ययन–कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए मानना होगा कि उस छात्र के अध्ययन रूप कार्य का विशिष्ट–योग्यता–सम्पन्न–ज्ञान–गुण ही यथार्थ–कारण है, अन्य नहीं।

यहाँ कोई तर्क करेगा कि यद्यपि हम यह मान लेते हैं कि कार्य की उत्पत्ति में 'उपादान–कारण' का होना आवश्यक है, क्योंकि वह स्वयं कार्यरूप–परिणत होता है और इसलिए उसे यथार्थ–कारण कहना भी संगत है। पर बाह्य–सामग्री के (जिसमें निमित्त का व्यवहार होता है) न होने पर भी तो कार्य नहीं होता, इसलिए जिस बाह्य–सामग्री के सद्भाव में उपादानरूप अन्य–द्रव्य में विवक्षित–कार्य हुआ है, उसे भी तो यथार्थ–कारण कहना चाहिए। उसे यथार्थ–कारण मानने में हिचक कैसी?

समाधान यह है कि जिस बाह्य–सामग्री के सद्भाव में विवक्षित–कार्य होता है, वह स्वयं तो उस कार्यरूप व्यापार करता नहीं। किन्तु जब अन्य द्रव्य में विवक्षित–कार्य होता है, तब उससे भिन्न बाह्य–सामग्री अपना दूसरा कार्य करती है। जैसे जब छात्र श्रवण–कार्य करता है, तब अध्यापक सुनाने की इच्छा तथा वचन और कार्यगत चेष्टा करता है। ऐसा तो है नहीं कि छात्र और अध्यापक दोनों ही मिलकर एक–द्रव्यगत श्रवणरूप–व्यापार में उपयुक्त होते हैं। यही कारण है कि

प्रकृत में अध्यापक के सुनाने की इच्छा आदि को यथार्थ-कारण न कहकर 'निमित्त (उपचारित)-कारण' कहा है। विवक्षित बाह्य-सामग्री के सद्भाव में या उसे लक्ष्य कर कहा है। विवक्षित बाह्य-सामग्री के सद्भाव में या उसे लक्ष्य कर वह कार्य हुआ, इसलिए तो उसे 'निमित्त रूप' से कारण कहा गया; पर वह स्वयं उस कार्यरूप-परिणत नहीं हुआ, इसलिए उसमें वह कारणता 'उपचारित' मानी गई है। इसी का नाम 'असद्भूत-व्यवहार' है। विवक्षित-कार्य होते समय ऐसा व्यवहार तो अवश्य होता है, पर वह निश्चयरूप (उपादान-उपादेयरूप) न होने के कारण 'असद्भूत' ही होता है।

अब **प्रश्न** यह है कि ''यह व्यवहार 'असद्भूत' ही सही, पर यदि ऐसा व्यवहार न हो, तो क्या निश्चयरूप उपादानकारण-उपादेयरूप (कार्यरूप) परिणत हो सकता है ? यदि नहीं, तो ऐसे व्यवहार को भी यथार्थ-कारण क्यों नहीं माना जाता ? उदाहरणार्थ माना कि समुद्र स्वयं लहररूप परिणत होता है, किन्तु उसका यह कार्य विशिष्ट-वायु का योग मिलने पर ही होता है। जब-जब समुद्र तंरगरूप में परिणत होता है, जब वायु का योग नहीं मिलता, तब उसका तंरगरूप कार्य भी नहीं होता (देखा जाता)। अत: कार्य की उत्पत्ति में जैसे उपादान का होना आवश्यक है, उसीप्रकार निमित्त का योग मिलना भी आवश्यक है। इसलिए जैसे यह माना जाता है कि यदि उपादान-कारण न हो तो कार्य नहीं होता, वैसे यह मानना भी उपयुक्त है कि यदि निमित्त-कारण न मिले तो भी कार्य नहीं होता। इसलिए जिस कार्य की उत्पत्ति में उपादान-कारण मुख्य है, उसीप्रकार उसमें निमित्त-कारण को भी मुख्यता मिलनी चाहिए ? कार्य में दोनों की मुख्यता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए श्री 'हरिवंश-पुराण' में कहा है-

सर्वेषां भेदभावनां परिणामादिवृत्तयः।
स्वान्तर्वद्धि : निमित्तेभ्य : प्रवर्तन्ते समन्ततः।। (62/51)

सभी पदार्थों के परिणाम आदि वृत्तियाँ अपने अन्तरंग-निमित्त (उपादान) और बहिरंग-निमित्तों से सबप्रकार से प्रवर्तित होती है।

तात्पर्य यह है कि कोई कार्य हो और उसका निमित्त न हो, तो ऐसा तो है नहीं। अतएव प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति आभ्यन्तर और बाह्य– दोनों प्रकार के कारणों से माननी चाहिए। यदि इनमें से एक भी कारण न हो, तो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे समुद्र में जल तो है, पर उसे जब तक वायु का योग नहीं मिलता, तब तक तंरगें नहीं उठतीं या वायु का योग तो है, पर शीत का योग पाकर यदि समुद्र का जब बर्फ बन गया है, तो भी तंरगें नहीं उठतीं। स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य तभी होता है, जब दोनों कारणों का योग होता है, किसी एक के अभाव में नहीं; अतः प्रत्येक कार्य के प्रति दोनों कारणों की मुख्यता है, किसी एक ही नहीं ?''

समाधान यह है कि प्रत्येक-कार्य प्रत्येक-द्रव्य की एक पर्याय है, अतः जैन-सिद्धांत के नियमानुसार जिस द्रव्य की जो पर्याय होती है, वह उसी का कार्य होता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर '**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्**', '**सद्द्रव्य-लक्षणम्**'– इन सूत्रों की रचना हुई है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द 'प्रवचनसार' में कहते हैं–

अपरिच्चत्त-सहावेणुत्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं तं दव्वं ति वुच्चंति।।

जो अपने स्वभाव को न छोड़कर उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से संयुक्त

है, तथा गुण–पर्यायवाला है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं। यह प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य का कार्य उसकी पर्यायरूप ही होता है, अन्य द्रव्य की पर्यायरूप नहीं। अत: प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में जिनके साथ उसकी बाह्य–व्याप्ति है, ऐसे अन्य एक, या एक से अधिक द्रव्यों की पर्यायों में निमित्त–व्यवहार होने पर भी यथार्थ में उनसे उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती—यह सिद्ध होता है। स्वामी समन्तभद्र ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह वचन कहा है कि "सब कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर–उपाधि की समग्रता होती है, यह द्रव्यगत–स्वभाव है।" यहाँ आचार्य समन्तभद्र के इसे 'द्रव्यगत–स्वभाव' कहने का आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमनशील है। अत: उसका प्रत्येक समय में स्वभावरूप या विभावरूप कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है। ऐसा तो है नहीं कि द्रव्य के परिणमनशील होने पर भी जिस समय निमित्त नहीं मिलते, उस समय उसका परिणाम रुक जाता हो। उत्पाद–व्यय के सिद्धान्तानुसार द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमन भी करता है। और प्रत्येक समय में जब–जब एक परिणाम का व्यय करके जिस दूसरे परिणाम को वह उत्पन्न करता है, तब–तब उस परिणाम के साथ उसकी अन्तर्व्याप्ति भी रहती है। यह अन्तर्व्याप्ति का नियम है। बाह्य–व्याप्ति का नियम भी इसीप्रकार है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में जब–जब परिणमनरूप जो कार्य होता है, तब–तब अन्य एक या एक से अधिक दो आदि द्रव्यों की जिन पर्यायों के साथ उस कार्य की बाह्य–व्याप्ति होती है, वे पर्याय भी उस समय अवश्य होती हैं। कार्य के साथ अर्न्तव्याप्ति और बाह्य–व्याप्ति के स्वीकार करने का यही तात्पर्य है। इन दोनों के एक काल में होने का नियम है और यह तभी बन सकता है, जब इसे द्रव्यगत–स्वभाव स्वीकार किया जाये। इसलिए किसी

एक द्रव्य का कार्य उससे भिन्न दूसरे द्रव्य से होता है, यह तो त्रिकाल में माना नहीं जा सकता। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक कार्य में 'असद्भूत-व्यवहारनय' से निमित्त को स्वीकार करके भी उसे 'उपचारित-कारण' ही स्वीकार किया है, 'यथार्थ-कारण' नहीं।

अब प्रश्न यह है कि आबालवृद्ध प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट-प्रतिभासित होता है कि बाह्य-सामग्री का योग मिलने पर कार्य अवश्य होता है और नहीं मिलने पर नहीं होता। जैसे मिट्टी को कुम्भकार आदि का योग मिलने पर घट अवश्य बनता है और ऐसा योग नहीं मिलने पर नहीं बनता। ऐसी सब मिट्टी समान है। जिसमें से किसी भी मिट्टी से कभी भी घट बनाया जा सकता है, किन्तु मिट्टी में घट के लिए व्यापार करते हुए यदि कुम्भकार अपना व्यापार रोक देता है, तो वह घट बनाने का कार्य अधूरा रह जाता है। और यदि उस मिट्टी में घट न बनाने के अनुरूप वह व्यापार करता रहता है, तो उसमें से घट-कार्य भी निष्पन्न हो जाता है, अतः घट के साथ मिट्टी की अर्न्तव्याप्ति के रहने पर भी जिस एक या एक से अधिक कारणों के साथ उसकी (घट की) बाह्य-व्याप्ति है। ऐसे कुम्भकार आदि के व्यापार को ही कारणरूप से प्रमुखता मिलनी चाहिए। यथार्थ में कार्य की उत्पादक बाह्य-सामग्री होती है, उपादान-सामग्री नहीं। उसके ग्रहण का यह तात्पर्य नहीं कि वह अपने कार्य को स्वयं करता है।

यह भी एक प्रश्न है। समाधान यह है कि प्रश्नकर्ता ने वस्तुतः 'उपादान' और 'निमित्त' के यथार्थ-अर्थ को न समझकर ही यह प्रश्न किया है। हम आगम के अनुसार यह पूर्व में ही लिख आये हैं कि

जिसमें उत्तर–काल में विवक्षित–कार्य होता है, मात्र उसका नाम 'उपादान' नहीं है। परन्तु विवक्षित–कार्य के पूर्व–समय में स्थित विशिष्ट–पर्याययुक्त द्रव्य का नाम 'उपादान'–कारण है।

अब विचार कीजिए कि उस मिट्टी से उत्तरकाल में घट बननेवाला है। वह खेत में पड़ी हुई मिट्टी क्या घट का उपादान–कारण है। उपादान के उक्त–लक्षण के अनुसार यदि वह वास्तव में घट का उपादान है, तो अगले समय में ही उससे घट–कार्य हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा तो होता नहीं। किन्तु मध्य के काल में असंख्यात–पर्यायें (कार्य) होने के बाद ही उससे घट–कार्य निष्पन्न होता है। अतः जिस समय में उससे घट–कार्य निष्पन्न हुआ, उसके अनुसार पूर्व–समय में ही उसे घट का उपादान मानना 'युक्ति' और 'आगम'—दोनों से सम्भव हैं। केवल अपनी तर्कणा के आधार पर जिस मिट्टी से घट बना, उसके समान प्रतीत होने वाली समस्त मिट्टी को घट का उपादान–कारण मानना उचित नहीं है।

यह तो उपादान का विचार है। अब निमित्त का विचार कीजिए। कुम्भकार विवक्षित–मिट्टी से घट बनाना चाहता है। उसके लिए वह व्यापार भी करता है। किन्तु प्रथम–समय में वह मिट्टी घट नहीं बनती। दूसरे समय में वह मिट्टी घट नहीं बनती। कुम्भकार का व्यापार घट बनाने के लिए बराबर चालू है, पर उसके घट–पर्याय के लिए व्यापार करने पर भी असंख्यात–समय तक वह मिट्टी घट नहीं बनती। घट–उत्पन्न करने के लिए कुम्भकार कितना ही जोर (बल) क्यों न लगावे, तथापि मिट्टी से घट–पर्याय तक होनेवाली अपनी सब पर्यायों में से गुजरने के पहले वह मिट्टी 'घट' नहीं बनती। इस काल में कुम्भकार का जितना भी व्यापार है, वह सब एकमात्र घट बनाने के

लिए हो रहा है; फिर भी वह मिट्टी नियत-पर्यायों में से जाने के पूर्व घट नहीं बन रही है। इसका क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है। बात यह है कि जिसप्रकार मिट्टी के बाद घट तक होनेवाली सब पर्यायों में से गुजरना उसका सुनिश्चित है, उसीप्रकार कुम्भकार का उन पर्यायों के लिए व्यापार करना भी सुनिश्चित है। न तो मिट्टी अपनी पर्यायों को आगे पीछे कर सकती है और न कुम्भकार ही अपने व्यापार के क्रम को बदल सकता है। जिसप्रकार के व्यापार को वह खेत से मिट्टी लाते समय करता है, उसप्रकार के व्यापार को वह घट-पर्याय की निष्पत्ति के समय नहीं करता और जिसप्रकार के व्यापार को वह घट-निष्पत्ति के समय करता है, उसप्रकार के व्यापार को वह खेत से मिट्टी लाते समय नहीं करते हैं। इसका अर्थ हुआ कि खेत से मिट्टी लाने के समय से लेकर उसके घट बनने तक के जितने कार्य हैं, कुम्भकार के व्यापार भी उतने ही प्रकार के हैं और इन सभीप्रकार के व्यापारों का परस्पर-योग है। एक के होने पर दूसरा उसके अनुरूप होता ही है। इसमें फेर-बदल कोई कर नहीं सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भट्टाकलंक-देव ने 'अष्टशती' में यह वचन कहा है–

तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः।
सहायाः तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

'भवितव्यता' अर्थात् जिससमय में जिस द्रव्य से जैसा कार्य होना होता है, वैसी ही मनुष्य की बुद्धि होती है, पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है और सहायक भी वैसे ही मिलते हैं।

यहाँ भट्टाकलंक देव 'भवितव्य' को प्रधानता दे रहे हैं। मनुष्य की बुद्धि, उसके पुरुषार्थ और अन्य सहायकों को नहीं। ऐसा क्यों जबकि कार्य की उत्पत्ति में आभ्यन्तर-सामग्री के समान बाह्य-सामग्री का

होना भी आवश्यक है। तब फिर यहाँ मात्र आभ्यन्तर-सामग्री को मुख्यता क्यों दी गयी है। स्पष्ट है कि भट्टाकलंकदेव स्वयं यह अनुभव करते हैं कि कार्य में मुख्यता मात्र आभ्यन्तर-सामग्री की है। उसके होने पर बाह्य-सामग्री तो मिलती ही है।

जैनागम में बतलाया है कि द्रव्य-लिङ्ग के होने पर भाव-लिङ्ग होना ही चाहिए, इसका कोई नियम नहीं है। परन्तु भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता ही है—ऐसा नियम अवश्य है। सो इस कथन का भी यही तात्पर्य है कि जब जिस कार्य के अनुरूप आभ्यन्तर-सामग्री होती है, तब बाह्य-सामग्री जो लोक में उसकी सहायक कही जाती है, अवश्य मिलती है। इस नियम का अपवाद नहीं है, निश्चय और व्यवहार का ऐसा ही योग है। लोक में अनादिकाल से जितने भी कार्य हुए, हो रहे हैं और होंगे; उन सब में एक मात्र इसी नियम को लागू समझना चाहिए। यहाँ 'उपादान' की 'निश्चय'-संज्ञा है, क्योंकि वह 'स्व' है और 'निमित्त' की 'व्यवहार'-संज्ञा है, क्योंकि वह 'पर' है। कार्य की उत्पत्ति 'स्व' से ही होती है, 'पर' से नहीं होती। परन्तु कार्य परद्रव्य की जिस पर्याय के सद्भाव में या उसे लक्ष्यकर होता है, उसके द्वारा उस कार्य का ज्ञान कराने के अभिप्राय से उसमें पराश्रितपने का व्यवहार अवश्य किया जाता है। यहाँ व्यवहार का लक्षण ही यह है कि जो अन्य के कार्य को अन्य का कहे, उसे 'व्यवहार' कहते है। स्पष्ट है कि कार्य तो उपादान से ही होता है, क्योंकि वह उसकी पर्याय है। निमित्त से नहीं होता, क्योंकि वह उसका परिणाम नहीं। परन्तु निश्चय के साथ व्यवहार की युति बतलाने के लिए 'निमित्त से कार्य हुआ' — ऐसा व्यवहार अवश्य किया जाता है। जो सप्रयोजन होने से आगम में ग्राह्य माना गया है।

प्रत्येक मनुष्य क्षायिक-सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का प्रारम्भ केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही करता है—ऐसा नियम है। पर इसका इतना ही तात्पर्य है कि जब जब किसी मनुष्य को क्षायिक-सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, तब तब ऐसा योग अवश्य होता है। इससे अधिक उसका दूसरा अभिप्राय नहीं। अन्यथा उन सभी वेदक-सम्यग्दृष्टियों को क्षायिक-सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होनी चाहिए, जो केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में अवस्थित है; परन्तु ऐसा नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्य के क्षायिक-सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने का पाक-काल आ जाता है, उसी समय उसकी उत्पत्ति होती है और योग भी उसी के अनुरूप मिलता है। यदि पाक-काल को प्रधानता न दी जाए, तो वही मनुष्य इन दोनों के पादमूल में वर्षों से रह रहा है और वेदक-सम्यग्दृष्टि भी है, फिर क्या कारण है कि पहले उस क्षायिक-सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होता है, अन्य काल में नहीं। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति का ऐसा ही योग है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता।

यद्यपि कार्योत्पत्ति की यह अमिट-व्यवस्था है, तथापि यह संसारी-प्राणी अपने अज्ञानवश ऐसा मानता है कि "मैंने अन्य द्रव्य के इस कार्य को किया, मैं चाहूँ, तो इसमें उलट-फेर कर दूँ" आदि। अरे मूर्ख! तुझमें जब अपनी पर्यायों में उलट-फेर करने की क्षमता नहीं है, तब तू दूसरे के कार्यों को करने या उलट-फेर करने का अहंकार क्यों करता है। स्वामी समन्तभद्र ऐसे अज्ञानी-प्राणी के इस अहंकार को भलीभाँति जानते थे। यही कारण है कि वे इसके इस अहंकार को छुड़ाने के अभिप्राय से कार्य-कारण-परम्परा की सम्यक्-व्यवस्था का ज्ञान कराते हुए 'स्वयंभूस्त्रोत' में लिखते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्धयाविष्कृत-कार्यलिंगम्।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साहसवादीः ।।

आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञायक है, ऐसी यह भवित्यता अलंघ्यशक्ति है; क्योंकि संसारी-प्राणी स्वयं पर के कार्य करने में या अपनी पर्यायों में हेर-फेर करने में असमर्थ होते हुए भी ''मैं इस कार्य को कर सकता हूँ''—इसप्रकार के अंहकार से पीड़ित है। किन्तु वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी-कारणों को मिलाकर भी कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ पर आचार्य समन्तभद्र ऐसे अज्ञानी-प्राणी के लिए 'जन्तु' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, इससे ज्ञात होता है कि जिसप्रकार लोक में 'जन्तु' शब्द क्षुद्र-प्राणी के लिए प्रयुक्त होता है, उसीप्रकार स्वामी समन्तभद्र उक्त-प्रकार की धारणा को भी अति-क्षुद्र, अज्ञानमूलक मानते हैं। तभी तो उन्होंने ऐसी धारणा वाले प्राणी को 'जन्तु' शब्द द्वारा संबोधित किया है।

जिनागम में कार्यों के लिए 'प्रायोगिक-कार्य' और 'वैस्रेसिक कार्य'—ऐसा दो प्रकार का उल्लेख आया है। वहाँ बतलाया है कि जिस कार्य में पुरुष का प्रयत्न बाह्य-निमित्त है, उसे 'प्रायोगिक-कार्य' कहते हैं और शेष की 'वैस्रेसिक-कार्य' संज्ञा है। उत्तर-काल में निमित्त-कारणों को दो भागों में विभाजित किया गया दृष्टिगोचर होता है। एक वे जो अपने क्रिया-व्यापार द्वारा निमित्त होते हैं, जैसे वायु आदि और दूसरे वे जो अपनी मात्र उपस्थिति द्वारा निमित्त होते हैं। उसकारण जैन-परम्परा में निमित्तकारण के 'प्रेरक-निमित्त' और 'उदासीन-निमित्त' कारण—ऐसे दो भेद किये जाने लगे हैं। इस पर से

कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हुए प्रतीत होते हैं कि जो निमित्त अपनी प्रेरणा द्वारा किसी भी कार्य को नियत-समय से आगे-पीछे कर देते हैं, उनकी 'प्रेरक-कारण' संज्ञा है और शेष की 'उदासीन-निमित्त' संज्ञा है। 'प्रेरक-कारण' के विषय में अपने इस मन्तव्य को पुष्ट करने के लिए वे 'व्यवहार-नय' की मुख्यता से आगम में प्रतिपादित अकालमरण, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा आदि को उदाहरणरूप में उपस्थित करते हैं। किन्तु उनका यह कथन निश्चय-व्यवहार की पद्धति के स्वरूप को न समझने का ही नतीजा है। आगम में तो यह कथन निमित्तों की मुख्यता दिखलाने के लिए ही किया गया है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि उपादानकारण के अभाव में यदि कोई कार्य केवल निमित्तों के बल से हो जायेगा, तो उसका ऐसा अर्थ करना कार्य-कारणपरम्परा की अनभिज्ञता का ही सूचक माना जायेगा। जबकि आगम में उपादान का यह लक्षण किया है कि अनन्तरपूर्व-पर्याय-विशिष्ट-द्रव्य को 'उपादान-कारण' कहते हैं। ऐसी अवस्था में इस लक्षण के अनुसार 'उपादान-कारण' के अभाव में केवल 'निमित्त' को कारण माना जा सकता है? अर्थात् नहीं माना जा सकता। अतएव कार्यमात्र उपादान से ही होता है और जब कार्य होता है, तब इसका कोई निमित्त अवश्य होता है—यह जो आगम का अभिप्राय है, उसे ही यथावत् मानना चाहिए। प्रत्येक कार्य के प्रति सब निमित्त समान हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य पूज्यपाद उक्त अभिप्राय की पुष्टि करते हुए 'इष्टोपदेश' में कहते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।

अज्ञ विज्ञता को नहीं प्राप्त होता और विज्ञ अज्ञता को नहीं प्राप्त

होता। इतना अवश्य है कि जिसप्रकार गतिक्रिया का धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है, उसीप्रकार अन्य सब-पदार्थ निमित्तमात्र हैं।

भट्टाकलंकदेव भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए 'तत्त्वार्थवार्तिक' (अ.1 सूत्र.20) में कहते हैं–

"यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवन-परिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्स्वपि दण्डानिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवन-परिणामनिरुत्सकत्वान्न घटो भवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डनिमित्त-सापेक्ष-अभ्यन्तर-परिणाम-सान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादय इति दण्डादीनां निमित्त-मात्रत्वं भवति।"

जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर घट-भवनरूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत-प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं; क्योंकि दण्डादि-निमित्तों के रहने पर भी बालुका-बहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होने के कारण घट नहीं होता; अतः बाह्य में दण्डादि-निमित्त-सापेक्ष मिट्टी का पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप-परिणाम का सान्निध्य होने से घट होता है। दण्डादि घटरूप परिणमित नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

उपादान और निमित्त इन दोनों की युति है, इसलिए केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानने पर एकांत का प्रसंग आता है–यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपादान स्वयं कार्य का प्रागभाव-रूप है। जबकि निमित्त का उसमें अत्यन्ताभाव है और अनेकान्त दो द्रव्यों में घटित नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप होती है। अतः जिसप्रकार स्वरूप की अपेक्षा कार्यरूप-दंव्य में निमित्त का अत्यंताभाव है, उसीप्रकार कारण की अपेक्षा भी कार्य-द्रव्य में निमित्त

का अत्यंताभाव है और जिसका जिसमें अत्यंताभाव होता है, वह उसका स्वरूप न होने के कारण न तो कार्य ही होता है और न कारण ही। यही कारण है कि प्रत्येक कार्य में निमित्त को स्वीकार करके भी उसे व्यवहार-हेतु ही कहा है। अतएव प्रकृत में यही अनेकान्त घटित होता है कि यथार्थ-हेतुरूप से कार्य में उपादान की अस्ति है और निमित्त की नास्ति है। यही कारण है कि व्यवहार-पक्ष को गौण करके निश्चय-पक्ष की मुख्यता से 'समयसार' में यह वचन कहा है—

अण्णदविएण अण्णदव्वस्स ण कीरए गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्व दव्वा उप्पज्जंते सहावेण।।

किसी अन्य-द्रव्य के द्वारा किसी अन्य-द्रव्य के गुण (विशेषता-पर्याय) का उत्पाद नहीं किया जाता, इसलिए सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शक्यम् अन्य-द्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात् सर्वद्रव्याणां स्वभावे नैवोत्पादात्।

और परद्रव्य (द्रव्यकर्म-नोकर्म) जीव के रागादिकों को उत्पन्न करते हैं—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्य-द्रव्य के द्वारा अन्य-द्रव्य के गुणों (पर्यायों) को उत्पन्न करने का अयोग है। कारण कि सभी द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

यह है उपादान और निमित्त की कार्य के प्रति वास्तविक-स्थिति का स्वरूपाख्यान है। जो भव्य इसे इसी रूप में अंतःकरण-पूर्वक स्वीकार करता है, वह नियम से मोक्षगामी होता है। ❀❀❀

हिंसा एवं अहिंसा : एक दार्शनिक चिन्तन

इस आलेख के आधारभूत विवेच्य-बिन्दु निम्नानुसार हैं—
1. हिंसा एवं अहिंसा के दार्शनिक-पक्ष का उपयोग एवं दुरुपयोग।
2. हिंसा तथा अहिंसा के दो रूप—(1) निश्चयरूप, (2) व्यवहाररूप।
3. हिंसा के चार भेद।

'आत्मा' नाम के पदार्थ का घात नहीं होता, उसका रूपान्तर होता है, यह बात कहने मात्र की है, तो फिर किसी भी प्राणी को किसी के पीड़ा देने या घात की बात अशक्य-अनुष्ठान (असंभव कार्य) होने से बिल्कुल-व्यर्थ सिद्ध हुये, किसी को पीड़ा देने का भाव तभी सार्थक हो सकता है, जब उसके द्वारा वध का कार्य सम्भव हो सके; लेकिन आत्मा की अमरता के कारण वह बात संभव होती ही नहीं है, इसलिए बंध करने के भाव की अत्यन्त व्यर्थता सिद्ध हुई। यह हिंसा तथा अहिंसा के दार्शनिक-पक्ष का सुन्दर-उपयोग है। यदि कोई ऐसा छल ग्रहण करके "कि जब किसी प्राणी का घात होता ही नहीं है तो खूब प्राणियों का घात किया। दार्शनिक पक्ष का दुरुपयोग करे तो यह बुद्धि का व्यभिचार ही है, जब किसी प्राणी का घात होता ही नहीं है तो इस वस्तुस्थिति को समझ कर वो प्राणी घात के भावों को विराम मिलना चाहिए, न कि प्राणी का वध अशक्य होने पर भी उसका वध करने के प्रयत्न तथा श्रम को प्रोत्साहन।

हिंसा तथा अहिंसा के दो रूप निश्चय एवं व्यवहार

1. निश्चय हिंसा—आत्मा का स्वरूप निश्चल ज्ञान आनन्दमय है, उसके उस निश्चल स्वरूप में उसके जिन-जिन भावों से विकार अथवा चंचलता पैदा होती है, निश्चय (वास्तव) में वे सभी भाव हिंसा हैं। इस नियम के अनुसार आत्मा के भीतर उत्पन्न होने वाले पुण्य अथवा पाप शुभ और अशुभ जितने भी भाव संभव हो सकते हैं, वे सब आत्मा के शान्ति निर्विकार तथा स्थिर, स्वरूप में अस्थिरता के उत्पादक होने से वास्तव में हिंसा ही है, लोक में लोग पाप भाव को अर्थात् पर परिपीड़न को हिंसा तथा पररक्षण अथवा पर अनुरंजन को अहिंसा कहते हैं किन्तु यह लौकिक दृष्टि है आध्यात्मिक अर्थात् मोक्षमार्ग की दृष्टि में पुण्य और पाप दोनों ही दशा में आत्मा की वृत्ति निश्चल नहीं रहती है और उसका शांत स्वरूप विकृत अर्थात् चंचल होता है, अतएव निश्चित रूप से हिंसा ही है, जैसे रोदन में एक गम्भीर व्यक्ति की मुखाकृति बिगड़ती है उसीप्रकार हंसने में भी उसकी स्वस्थ तथा स्थिर मुखाकृति भंग होती है अतएव रुदन तथा हर्ष उसकी मुखाकृति को समानरूप से विकृत करने के कारण विकार ही है, उसीप्रकार पुण्य भाव अथवा शुभ राग करते समय भी आत्मा की वृत्ति स्थिर और शान्त न रहकर अस्थिर तथा चंचल होकर बहिर्मुख हो जाती है अतएव शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि में पाप भाव के समान पुण्यभाव भी हिंसा ही है यही निश्चय हिंसा का स्वरूप है।

व्यवहार हिंसा—आत्मा में कषाय भावों की उत्पत्ति होने पर उस समय उनके निमित्त से अपने शरीर अथवा इन्द्रियाँ आयु आदि तथा दूसरे के शरीर आयु आदि का वियोग अथवा विकृति अथवा दूसरे के मन का संतप्त होना व्यवहार हिंसा अथवा द्रव्य हिंसा

कहलाती है, यद्यपि एक प्राणी के द्वारा उसके अपने द्रव्यप्राण तथा दूसरे के भाव और द्रव्यप्राणों को पीड़ित करना अपना वियोग करना वस्तुस्वभाव की दृष्टि से नितान्त असंभव है। फिर भी किसी प्राणी के द्रव्यभावों के साथ उनके कषाय भावों का संबंध होता है, उसी का हिंसक उस प्राणी को व्यवहार-दृष्टि से अथवा लोक-व्यवहार में कहा जाता है, यह बात औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं। जैसे लोक में इसप्रकार के व्यावहारिक वचन-प्रयोग लौकिक-प्राणी निरन्तर किया करते हैं। जैसे हम दीपक से पढ़ते हैं, गुरुदेव ने परीक्षा में सफलता दी, धन ने राग पैदा किया इत्यादि। जैसे इन प्रयोग में दीपक का पढ़नेवाले के प्रति, गुरु का विद्यार्थी के प्रति और धन का राग के प्रति कोई कर्तृत्व अथवा कारणता न होने पर इसप्रकार के औपचारिक-वचन प्रयोग किये जाते हैं। इसीप्रकार एक प्राणी की कषाय-सहित हिंसक भावना के समय यदि किसी दूसरे प्राणी के प्राणों का वियोग अथवा उसके प्राणों को पीड़ा उसके अपने आयुकर्म के क्षय अथवा असाता के उदय से हो जाती है, तो हिंसक-भावना करनेवाले व्यक्ति को उसके प्राणों को वियोग करनेवाला अथवा उसको कष्ट पहुँचाने वाला व्यवहार में कहा जाता है, यह हिंसा का व्यवहारिक अथवा औपचारिक-पक्ष है।

निश्चय-अहिंसा—वास्तव में कोई भी प्राणी किसी दूसरे प्राणी के प्रति हिंसा की भावना करने उसके प्राणों का वियोग भले ही वह न कर पाये, किन्तु उसके प्राणों का वियोग भले ही वह न कर पाये, किन्तु उसके अपने शान्त, निराकुल, चैतन्य-प्राणों में उस हिंसा की भावना से विह्वलता पैदा करके अपने प्राणों का घात तो निश्चित ही कर लेता है। अतएव हिंसा वास्तव में स्व-प्राणघात ही है, पर-

प्राण–घात नहीं। इस तथ्य के आधार पर अपने जीवन में वास्तविक–अहिंसा लाने के लिए पर के प्राण–परिपीड़न अथवा पर की सहायता और रक्षा इत्यादि असंभव–कार्यों का परित्याग करके अपने शान्त–निराकुल ज्ञानस्वभाव में और आनन्दस्वरूप स्वभाव में ही स्थिर होना चाहिए। जितने–जितने अंशों में मुक्ति का साधक–जीव इन कार्यों से विराम लेकर अपने निष्कम्प–स्वभाव में निर्विकल्प होकर स्थिर होता जाता है अर्थात् वीतरागता को उपलब्ध करता जाता है, निश्चय से उतने ही अंशों में 'अहिंसक' कहा जाता है और पीड़ा अथवा रक्षा के सभी विकल्पों को छोड़कर जब वह अपने में सम्पूर्ण थिरता कर लेता है, तभी वह पूर्ण–अहिंसक बन जाता है। अतएव वीतरागता की पराकाष्ठा ही अहिंसा की चरम–उपलब्धि है।

व्यवहार–अहिंसा–जैसे एक प्राणी किसी दूसरे का वध नहीं कर सकता, उसीप्रकार किसी की रक्षा भी ठीक वैसा ही असंभव–कार्य है, इसलिए निश्चय–अहिंसा को जीवन में लाने के लिए यह सर्वप्रथम–आवश्यकता है कि किसी को प्राणों को दुःखानेरूप व्यवहार–हिंसा अथवा किसी के प्राणों को बचानेरूप व्यवहार–अहिंसा के प्रति 'अहम्' का परित्याग किया जाये। यह अहं, जिसको दर्शनकारों ने 'मिथ्यात्व' तथा 'अज्ञान' के नाम से घोषित किया है, छूट जाने पर भी मुक्ति–साधक–प्राणी के मन में पर की हिंसा अथवा पर की रक्षा के भाव आया करते हैं, अतएव मुक्ति–साधक–प्राणी जब तक वह अपने स्वरूप की सम्पूर्ण उपलब्धि नहीं कर लेता, व्यवहार–हिंसा के तीव्र–पाप से बचकर व्यवहार–अहिंसा के पुण्य–भावों में प्रवृत्ति करता है। और यह प्रवृत्ति स्वरूपथिरता न होने तक होती है और करनी भी चाहिए। यद्यपि अपनी दृष्टि में वह साधक–

जीव इस व्यावहारिक अहिंसा की प्रवृत्ति को व्यवहार–हिंसा की तरह ही 'अनुपादेय' (हेय) मानता है, तो भी साधक–दशा में जितना राग शेष है, उसके फलस्वरूप शुभभाव आते ही हैं। जैसे एक रोगी रोग और औषधि दोनों को समानरूप से हेय मानता हुआ भी जब तक उसे पूर्ण–आरोग्य की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक रोग और रोग के कारणों से बचता हुआ अनुरागपूर्वक औषधि का सेवन करता है और शनैः–शनैः औषधि का भी परित्याग करता हुआ स्वस्थ हो जाता है, उसीप्रकार मुक्ति साधक किसी के वध अथवा प्राण के परिपीड़न की प्रवृत्तियों के तीव्र पाप से बचकर पर की दया, सहयोग एवं रक्षा आदि शुभ अनुष्ठानों (कार्यों) में प्रवृत्ति करता है और क्रमशः अपने निश्चल–स्वभाव के आदर्श का अनुसरण करता हुआ शुभ प्रवृत्तियों को भी छोड़ता जाता है और पूर्ण वीतरागी बन जाता है, जहाँ पीड़ा अथवा रक्षा के विकल्पों का कभी उदय ही नहीं होता।

हिंसा के चार भेद – 1. संकल्पी, 2. आरम्भी, 3. उद्योगी, 4. विरोधी।

संकल्पी-हिंसा–अपने द्रव्यप्राण तथा पर के द्रव्य और भावप्राणों के परिपीड़न अथवा घात करने के संकल्प अथवा इरादे को 'संकल्पी-हिंसा' कहते हैं, यह हिंसा सभी हिंसाओं में भयंकर है, इसमें द्रव्य प्राणों के घात की सम्भावना कम होने पर भी भाव–हिंसा भयंकररूप में होती है। संकल्पी–हिंसा को दूसरे शब्दों में 'कायरता' भी कहते हैं; क्योंकि इसका विशेष–संबंध उसके मन में होनेवाले संकल्पों से होता है। यह व्यक्ति मन ही मन पर का अहित करने की बात सोचता रहता है, किन्तु पराक्रमपूर्वक निर्भय होकर किसी का सामना नहीं करता, अतः यह कायरता का ही दूसरा रूप है। आज के विज्ञान का

कीटाणुवाद भी संकल्पी-हिंसा के पाप का साधन बना है, परमाणुमात्र भी शरीर में जो अनेकप्रकार की व्याधियाँ होती हैं, उन सबके भिन्न-भिन्न कीटाणु की कल्पना विज्ञान करता है। जब उनमें से अधिकांश-परमाणुओं में विविधरूप से परिवर्तन के कारण ही होती है, कोई भी चिकित्सक किसी भी व्याधि के सम्बन्ध में रोगी को यह निर्णय देता है कि अमुकप्रकार के कीटाणुओं के कारण यह व्याधि पैदा हुई, अतः रोगी का मन आरोग्य के लिए औषधि लेने के स्थान पर कीटाणुओं को मारने का ही ध्येय बना लेता है। किसी भी रोग की चिकित्सा में कीटाणुओं का घात होना एक बात है और कीटाणुओं को मारने का प्रयोजन होना दूसरी बात। अतः इसप्रकार कीटाणुओं का विनाश भी संकल्पी-हिंसा की ही पर्याय है।

आरम्भी-हिंसा—शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भोजन, वस्त्र, बिछौना आदि के ग्रहण-त्याग में जो जीवघात होता है, उसे 'आरम्भी-हिंसा' कहते हैं।

उद्योगी-हिंसा—आजीविका के लिए होनेवाली हिंसा 'उद्योगी-हिंसा' कहलाती है।

विरोधी-हिंसा—युद्ध अथवा लड़ाई-झगड़े आदि में अपनी रक्षा के लिए होनेवाली हिंसा 'विरोधी-हिंसा' कहलाती है।

संकल्पी-हिंसा को छोड़कर इन तीनों प्रकार की हिंसाओं में जीवघात का सीधा प्रयोजन न होने के कारण ये हिंसायें संकल्पी-हिंसा के समान तीव्र-पापरूप नहीं हैं; किन्तु यदि आरम्भ, उद्योग, विरोध में यत्नाचार का ध्यान न हो, तो इन हिंसाओं में भी उतनी ही तीव्रता आ जाती है। अतः लौकिक-जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप

में यह बात स्मरणीय है कि उसको करते समय हमारे चित में प्रमाद की अधिकता न हो और सदा ही यह ध्यान रहे कि कहीं हमारे निमित्त से प्राणियों का व्यर्थ-घात तो नहीं हो रहा है। यह व्यवहार-अहिंसा का विशुद्धरूप है, जिससे लोक जीवन में सुख में लौकिक-सुख का प्रादुर्भाव होता है। हिंसा और अहिंसा के इन प्रसंगों में वस्तुस्वभाव का वह पक्ष तो सदा ही ध्यान में रखने योग्य है कि एक प्राणी किसी दूसरे प्राणी का वध अथवा रक्षा करने में समर्थ नहीं है, अतः आरम्भी आदि हिंसाओं में से एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी की वध अथवा रक्षा की जो बात कही जाती है, वह औपचारिक है और मात्र निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध का परिचय देने के लिए है। इन चारों प्रकार की हिंसाओं में जीवों का अधिकाधिक कितना वध हुआ है अथवा कितने जीव मरे हैं ?—यह उस समय होने वाली हिंसा के परिमाण का पैमाना नहीं है; किन्तु उसका आधार यह है कि उन आरम्भादि-क्रियाओं में व्यक्ति कितना सावधान अथवा असावधान रहा है।

हिंसा के विविधरूप और उनमें सर्वत्र प्रमत्तयोग अर्थात् सकषाय-परिणाम की ही मुख्यता है।

अहिंसा का व्यवहारिकरूप और उसका महत्त्व—अहिंसा को व्यवहारिकरूप देने के लिए व्यक्ति अपनी इच्छाओं को रोके पर से वृत्ति को समेटे तथा यह ध्यान रखे कि मेरे से किसी जीव को दुःख न हो।

जैन-अहिंसा के चार रूप—1. लोकाचार-सापेक्ष, 2. अहिंसाणु व्रत, 3. अहिंसा-महाव्रत, 4. शुद्धोपयोग।

लोकाचार-सापेक्ष–जिससे लोकजीवन अच्छा रहे, यह मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि दोनों के होता है, प्रमाद को कम करता हुआ, जो आचरण हो, वह लोकाचार-सापेक्ष अहिंसा है।

अहिंसाणुव्रत–कृत-कारित-अनुमोदना से संकल्पपूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। अहिंसाणुव्रती 5 उदुम्बर, 3 मकार का त्यागी होता है, अभक्ष्य-सेवन नहीं करता। अहिंसा व्रत के पालन के लिए 5 प्रकार की भावना रखता है, मन को वश में करना, वचन को वश में करना, आदान-निक्षेपण (देखकर धरना-उठाना) करता है।

अहिंसाणुव्रत अहिंसा का प्रथम-चरण है।

अहिंसा-महाव्रत–जहाँ त्रस-स्थावर सभीप्रकार के जीवों के घात का मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग किया जाता है, वह अहिंसा-महाव्रत होता है, अहिंसा-महाव्रतधारी मुनि होते हैं, उनकी अहिंसा लोकोत्तर होती है, क्योंकि वे स्वयं भी लोकोत्तर होते हैं।

शुद्धोपयोग–जैन अहिंसक-आचरण की वह अवस्था है, जहाँ हिंसा करनेरूप अशुभ-भाव तो होते ही नहीं, अन्य-प्राणियों की रक्षा आदि में व्यवहार अहिंसा-सम्बन्धी भाव भी नहीं होते, यहाँ उन साधुओं को श्रेय और प्रेय मात्र वीतरागता ही होती है, हिंसा-अहिंसा-संबंधी सभीप्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में आत्मा के पूर्ण-अहिंसक-स्वरूप में उनकी तन्मयता होती है, यह अहिंसा का जीवन में सर्वोत्कृष्ट व्यवहारिकरूप है। यहाँ आत्मा अहिंसा की उत्तरोत्तर विकसित-श्रेणियों पर आरोहण करता हुआ अपने अंतःकरण को विशुद्ध करता जाता है। भौतिक-जीवन की आवश्यकतायें जैसे

अन्न, पानी और हवा भी उसे अपने लिए अपेक्षित नहीं होगी, आत्मा मानो जागृत हो जाती है और जहाँ जगत् के एक परमाणु की भी अपेक्षा न हो, तो हिंसा के लिए अवकाश ही क्या रहेगा ? अतएव जैन-अहिंसाचार का यह अन्तिमरूप आत्मा को रागादि-विकारों को सम्पूर्ण-बंधनों से मुक्त करके पूर्ण-वीतरागी बना देता है। अहिंसा हमारे जीवन में अणुव्रत अथवा महाव्रत कोई भी रूप चल रहा हो, किन्तु उसका यह अन्तिम परिशुद्ध-स्वरूप सदा ही हमारे सामने चाहिए। केवल बाह्य-आधार तक सीमित रहनेवाली अहिंसा हमारे कल्याण का हेतु नहीं बन सकेगी; क्योंकि बाह्याचार भी स्वयं जीव को बचाने की आकुलता वाला होता है और अहिंसा का मूल उद्देश्य तो इन आकुलताओं की समाप्तिपूर्वक चरम-स्वाधीनता और शान्ति प्राप्त करना होता है। और वह शान्ति अगर मिलती है, तो यही अहिंसाचार की सबसे बड़ी-सफलता है।

सत्य–

1. सत्य एवं असत्य का लक्षण, 2. असत्य के चार भेद, 3. लोकोत्तर एवं लौकिक सत्य।

सत्य एवं असत्य का लक्षण–प्रमाद के योग (कषाय) के योग से जो कुछ भी असत्-कथन किया जाता है, वह सभी असत् अर्थात् झूठ है। किसी भी वचन बोलने में भले ही वह सत्य हो, लेकिन वह अगर उसमें कषायभाव है, तो वह असत्य ही है।

असत्य का सम्बन्ध अथवा असत्य की अभिव्यक्ति वचनों के द्वारा होती है, किन्तु वास्तव में वचन सत्य अथवा असत्य नहीं होता। सत्य और असत्य का सीधा-सम्बन्ध आत्मा की भावनाओं से होता है। जैसी भावना अर्थात् विचार होता है, उसके साथ प्रगट होनेवाले

वचनों पर उसी भावना का आरोप करके उसे सत्य अथवा असत्य कहते हैं; किन्तु वाणी पुद्गल की पर्याय होने से वह न सत्य है, न असत्य। यदि वाणी को ही सत्य-असत्य का रूप दे दिया जाये, तो जो व्यक्ति बोलता ही नहीं, क्या उसे कभी असत्य का दोष नहीं होगा। सत्य-असत्य का उद्गम-स्थल केवल आत्मा ही है, असत्य से सत्य की ओर जाने के लिए आत्मा का ही शोधन करना चाहिए।

असत्य के चार भेद–

1. **नास्तिरूप**–जिस (भाव) वचन से विद्यमान-पदार्थ का निषेध किया जाता है, वह प्रथम-असत्य है। जैसे–यहाँ देवदूत नहीं है। वस्तु है और उसके सम्बन्ध में कहना नहीं है, यह नास्तिरूप-झूठ है।

2. **अस्ति-रूप**–जिस वचन से अविद्यमान भी वस्तु का स्वीकार किया जाता है, वह 'अस्ति'- नामक असत्य है।

3. **विपरीत**–जिस वचन से अपने स्वरूप में विद्यमान भी पदार्थ अन्यथा कहा जाता है, वह 'विपरीत'-असत्य है।

4. **अयोग्य**–गर्हित, सावद्य, अप्रिय इन तीनप्रकार के वचनों को सामान्यरूप से 'अयोग्य'-असत्य कहते हैं।

गर्हित वचन–निन्दनीय, पैशून्य (चुगली), हास्य, गर्भित, कठोर, अनुचित। इनमें राग-द्वेष की मुख्यता है, प्रलापरूप (व्यर्थ-बकवाद) और जो भी उस सूत्र (आगम-विरुद्ध वचन है, वह सब गर्हित-वचन कहा जाता है)।

सावद्य-वचन–छेदने, भेदने, मारने, शोषण, व्यापार, चोरी आदि के जो वचन हैं, वे सब सावद्य- वचन कहलाते हैं; क्योंकि उनके

निमित्त से प्राणियों के मरण तक की सम्भावना रहती है। इनमें क्रोध की मुख्यता है।

अप्रिय-वचन—जो वचन दूसरों को अप्रीति, भय, खेद, बैर, शोक एवं कलह करने वाले अथवा और भी किसीप्रकार से दुःख उत्पन्न करनेवाले हों, वे सब अप्रिय हैं।

अपवाद—सारे ही असत्य का हेतु एकमात्र प्रमत्तयोग होने के कारण हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का कथन 'असत्य' में गर्भित नहीं होता; क्योंकि जैसे कोई मुनि विषय-त्याग का उपदेश देते हैं। अगर वह विषयी को बुरा लगे या उसे क्रोध हो, तो वह मुनि 'असत्यवादी' नहीं कहलाते।

लोकोत्तर-सत्य—अनेकान्त का दूसरा नाम लोकोत्तर-सत्य है। लोकोत्तर-सत्य मोक्षमार्ग का साधक है। सत्य-असत्य मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा अनेकान्त-स्वरूप समझकर स्वरूप में स्थिर होना। सत्-स्वरूप का निर्णय होने पर सहज ही सत्य-वाणी निकलती है।

सत्य के 4 भेद—1. व्यवहारिक, 2. सत्याणुव्रत, 3. सत्य महाव्रत, 4. शुद्धोपयोग।

व्यवहारिक-सत्य—केवल वाणी का विषय न रहकर, हमारे मन में असत्य का विकल्प न आवे। असत्य का विकल्प हमारे मन में प्रफुल्लता न लाये, सत्य-स्वभाव बन जावे किसी भय के कारण सत्य बोलना असत्य ही है। "मैं सदा सत्य बोलूँ"—इसका अर्थ यह कि अभी भी असत्य की वाणी विद्यमान है। सहज ही स्वभाव से सत्य निकले, उसका नाम व्यावहारिक-सत्य है।

सत्याणुव्रत—जो भोगोपभोग के साधन मात्र सावद्य-वचनों को

छोड़ने के असामर्थ्य होने पर भी शेष सभी असत्य-भाषण का परित्याग होता है, उसे 'सत्याणुव्रत' कहते हैं। सम्यग्दर्शन-पूर्वक ही सत्याणुव्रत होता है।

भोगोपभोग के साधनमात्र सावद्य-वचन—असत्य के जो चार प्रकार के भेद कहे हैं, उनमें लोक व्यवहार अथवा अपनी आजीविका आदि में असत्य बोलने का प्रयोजन न होते हुए भी असत्य-भाषण हो जाता है, उसे भोगोपभोग के साधनमात्र सावद्य-वचन कहते हैं।

स्थूल झूठ स्वयं न बोलना और न दूसरों को बुलवाना तथा विपत्ति आने पर ये सत्य भी नहीं बोलना, इसे स्थूल झूठ का परित्याग अथवा 'सत्याणुव्रत' कहते हैं। स्थूल-असत्य का स्वरूप 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' में जैसा कहा है, वैसा ही है। और उसमें सभी प्रकार के असत्य गर्भित हो जाते हैं, भोगोपभोग के साधन मात्र सावद्य-वचन को वह स्थूल-झूठ नहीं कहा है। वहाँ श्रावक को उसका परित्याग नहीं होता, किन्तु सत्य-महाव्रत धारण करके उसे छोड़ने के लिए वह लालायित रहता है, यहाँ आपत्ति में सत्य न बोलने की बात अपने बचाव के लिए नहीं है, यदि व्यक्ति किसी भी प्रकार की आपत्ति आने पर उससे बच निकलने के लिए असत्य का सहारा लेता है, तो वह पूरा असत्यवादी ही है; क्योंकि असत्य का ऐसा प्रयोग देह में तीव्र-ममता के बिना संभव नहीं, इसलिए आपत्ति में सत्य भी न बोलने का अर्थ न्याय-मार्ग में स्थित किसी पुरुष पर आई हुई विपत्ति में उसकी रक्षा करता है। यदि ऐसे कार्य में असत्य-वचन का भी प्रयोग करना पड़े, तो उस वचन को असत्य नहीं कहते; क्योंकि उसमें न्यायमार्ग की रक्षा का प्रयोजन सन्निहित है, आपत्ति में सत्य भी

न बोलने का दूसरा अर्थ यह नहीं है किसी भी अपराधी अथवा सदोष–व्यक्ति को बचाने के लिए उसे परोपकार मानकर हम असत्य–संभाषण करें। यदि इस पद का इस अर्थ में प्रयोग किया जाने लगे, तो लोकनीति और धर्मनीति के प्रति बड़ा भारी–अन्याय होगा, अतएव अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए, उसे बचाने का कोई भी उपाय (प्रयास) सत्यमय नहीं होगा।*

सत्यव्रत की 5 भावनायें–सत्यव्रत के निर्वाह के लिए निरन्तर 5 प्रकार की भावनायें तथा प्रयत्न होने चाहिए। 1. क्रोध का त्याग, 2. क्रोध के वेश में कहे गये सारे ही वचन असत्य होते हैं, क्योंकि क्रोध के समय व्यक्ति पर अविवेक छा जाता है और अविवेक स्वयं असत्य ही है, इसलिए उससे प्रेरित वचन भले ही वह वाणी में सत्य लगता हो, किन्तु अविवेक की संतान होने के कारण असत्य ही है।

2. भय का त्याग–असत्य का तीसरा–प्रेरक 'भय' है, भय से प्रेरित होने पर वचन सदा असत्य ही निकलते हैं, हमारे पारिवारिक–जीवन में बालकों में जो असत्य की प्रवृत्ति देखी जाती है, उसका मूल–कारण भय है। किस परिस्थिति में बालक को क्या करना चाहिए अथवा उसकी क्या आवश्यकता है ?–इसका विवेक न होने के कारण और उसके सुधार का मार्ग भी ज्ञात न होने के कारण बालक को राह पर लाने के लिए आतंक को ही अन्तिम–साधन मानते हैं, फलस्वरूप बालक असत्यवादी हो जाता है।

3. लोभ का त्याग–असत्य का दूसरा प्रेरक लोभ है, जो मन, वचन, काय इन तीनों से ही सत्य को बहिष्कृत कर देता है।

* यह प्रतिपादन 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक ग्रंथ पर आधारित है।

4. हास्य का त्याग—हास्य-प्रेरित वचन कभी भी सत्यरूप नहीं निकलते, उसमें प्रायः दूसरों को अपमानित अथवा दूसरों को लालायित करने के लिए व्यंग्य के प्रयोग होते हैं, अतएव उनमें सत्य का कहीं भी अवकाश नहीं है।

5. अनुवीचि-भाषण—आगम के अनुकूल निर्दोष-वचन बोलना जिसने सत्यव्रत आंशिक अथवा सर्वांग अंगीकार किया है, उसका जीवन 5 भावनामय होना चाहिए, उसे कोध, लोभ, भय और हास्य के प्रसंगों से बचना चाहिए।

सत्याणुव्रत के अतिचार (दोष)

परिवाद—यानि निन्दा करना। निन्दा के वचन सदा ही ईर्षा प्रेरित होते हैं, किसी की निंदा करना वह किसी दृष्टि से निन्दा के प्रयोजन को नहीं साधता अर्थात् इसलिए निन्दा के वचन किसी दूसरे के लिए तो कभी भी हानिप्रद नहीं होते, किन्तु उसके द्वारा सर्वाधिक हानि हमारी होती है। किसी की निन्दा करने में जो समय बीतता है, वह बिल्कुल नष्ट होता है, हमारे अपने जीवन के लिए उसकी उपयोगिता नहीं होती। किसी की निन्दा करना वह हमारे हृदय को भय का केन्द्र भी बना देता है; क्योंकि जिसकी निन्दा की जाती है, उसकी ओर से हम सदा ही शंकित रहते हैं। निंदा में नष्ट होनेवाले समय का उपयोग यदि हम स्वयं अपने आवश्यक कार्यों में अथवा जीवन शोधन करने के लिए करें, तो वह हमारे लिए कितना उपयोगी होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

रहोभ्याख्यान—किसी के शारीरिक-चिह्नों से उसके मन की गुप्त बात को जानकर प्रगट करना इसप्रकार का वचन सत्यरूप होते

हुए भी वह बेहद पर–परिताप का कारण होता है, अतएव असत्य ही है।

पैशून्य–यह भी एक अत्यन्त निंदनीय और गर्हित–कर्म है, चुगली करनेवाला व्यक्ति अत्यन्त–कायर होता है, कोई भी बात स्पष्ट और किसी के समक्ष कहने का उसे साहस नहीं होता। ऐसा व्यक्ति लोकशान्ति को भंग करनेवाला एक भयंकर–तत्त्व है, उसकी अपनी आत्मशान्ति तो मन के दूषित विकल्पों के कारण सदा भंग ही रहती है।

कूटलेखक्रिया–झूठे–लेख लिखना यह भी लोक–व्यवस्था लोक–शान्ति तथा लोक–नीति का विघातक–तत्त्व है। केवल एक झूठे लेख से लोक की कितनी हानि होती है, ऐसी सहस्त्रों घटनायें हमारे सामने होती हैं, विश्वयुद्ध और महायुद्ध इसमें संभव होते हैं। उस कूटलेखक–व्यक्ति का हृदय तो सदा मलिन रहता ही है और उसकी आत्मशान्ति तो सदा विकल रहती है।

न्यासापहार–(न्यास+अपहार) न्यास अर्थात् धरोहर। अपहार अर्थात् अपहरण करना। किसी की रखी हुई धरोहर का अपहरण करना यह कुकर्म भी मन की महा अपवित्रता के बिना संभव नहीं होता। इससे लोकजीवन में अशान्ति तो फैलती ही है, अन्याय की प्रेरणायें भी मिलती हैं; क्योंकि लोक का सामान्य व्यक्ति इतना गम्भीर, धीर नहीं होता। अत: यदि कोई उसकी धरोहर हड़प लेता है, तो उसे किसी दूसरे के साथ ऐसा करने की भावना पैदा हो जाती है और इसप्रकार लोक जीवन अशान्त हो जाता है। किसी ने 500 रुपये रक्खे हों और आकर वह 300 रुपये माँगे, तो उसे 300/– रुपये

दे देना और उससे यह नहीं कहना कि आपके 500 रुपये हैं, इसे धरोहर हड़पना कहते हैं।

इस पाँच प्रकार के सत्य के उल्लंघनों से यद्यपि लोकजीवन प्रवाहित होता है, तो भी इसमें सबसे बड़ी हानि उस प्राणी की होती है, जिसके भीतर ये पाँचों जन्म लेते हैं और वह हानि आत्मा को अपने स्वरूप से स्खलित होकर अपनी शांति का विनाश करने के अतिरिक्त और दूसरी नहीं है। अहिंसाणुव्रत अथवा सत्याणुव्रत आदि सभी व्रत, जिनको चारित्र भी कहते हैं, अनैकान्तिक–दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर ही 'व्रत' अथवा 'चारित्र' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। वास्तव में सत्य बोलने अथवा झूठ न बोलने के विकल्पों से अतीत आत्मस्वरूप में जो निश्चल निर्विकार–वृत्ति है, उसे ही 'चारित्र' कहते हैं, उसका दूसरा नाम वीतरागता भी है। उस आंशिक–वीतरागता अथवा अकषायभाव के प्रगट हो जाने पर आत्मा में चारित्र की निर्बलता के कारण भूमिकानुसार जो सत्यवादन अथवा जीव रक्षा आदि के विकल्प आते हैं, उन विकल्पों में भी तीव्र–राग (अशुभ–राग) के त्याग का प्रयोजन निहित होने के कारण उसे व्यवहार से अर्थात् निश्चय–चारित्ररूप वीतरागता के सहचार के कारण 'व्रत' अथवा 'चारित्र' कहते हैं, उस व्यवहार चारित्र में सत्य–दृष्टिवाले साधक को कर्ता–कर्मभाव अपना स्वामित्व नहीं होता, वरन् सदा ही उसके प्रति हेय–दृष्टि प्रवर्तित होती है। ज्ञानी–साधक को हेय होने के कारण वह व्यवहार–चारित्र नहीं होता, ऐसा कभी भी नहीं होता और उसके होने पर वह उसे एक क्षण के लिए भी उपादेय माने– ऐसा भी कभी नहीं होगा। उनका होना यह वस्तुस्थिति है, किन्तु होने के कारण उनकी उपादेयता भी स्वीकार करनी पड़े, यह बिल्कुल

आवश्यक नहीं है। उनका होना एक बात है और उपादेयता बिल्कुल दूसरी बात।

सत्य-महाव्रत—जहाँ सूक्ष्म अथवा स्थूल सभीप्रकार के असत्य का परित्याग होकर आत्मा में निर्विकल्प-स्थिरता तथा अतीन्द्रिय-आनन्द की वृद्धिपूर्वक भाषा-समिति तथा वचन-गुप्ति के साथ जो वचन-प्रयोग होता है, उसे सत्य-महाव्रत कहते हैं, इसके धारक सत्यदृष्टि अर्थात सम्यग्दर्शन और वीतरागता अर्थात् सम्यक्चारित्र को अपने अंतःकरण में साकार करनेवाले एकान्त-निर्जनों में निवास करनेवाले और तप ही जिनका जीवन है, ऐसे महासन्त होते हैं।

शुद्धोपयोग—इस भूमिका को प्राप्त होने पर सत्य मन वाणी अथवा क्रिया का विषय न रहकर आत्मा में साकार हो जाता है। यहाँ एकान्त अपने शुद्ध-ज्ञानानन्द-स्वरूप परम-ब्रह्म आत्मा की ही अनुभूति होने के कारण योगी को मानो साक्षात्-सत्य का दर्शन होता है, सत्य को लोक में परमेश्वर भी कहते हैं।

शुद्धोपयोग को प्राप्त होने पर योगी सम्पूर्ण रागादि-बन्धनों की दासता में इन्कार करके परम-ईश्वरत्व की ही साधना करता है और इसलिए शुद्धोपयोग साक्षात्-निर्वाण का कारण है और वास्तव में यही सत्य-दर्शन है।

❀❀❀

बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'

जन्म : 5 अप्रेल, 1924
खुरी, जिला – कोटा (राज.)

देहपरिवर्तन : 30 सितम्बर, 2015

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट, रामपुरा, कोटा (राज.) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरत होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संगाम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग में आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में – 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरूप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं–

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह "चैतन्य वाटिका" एवं गद्यविद्या "चैतन्य विहार", "चैतन्य की चहल-पहल" (हिन्दी-अंग्रेजी) में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

आपके गहन चिन्तन से प्रसूत तात्विक चर्चायें एवं प्रवचन का बहुमूल्य संकलन – चर्चा चैतन्य की, जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र, गुणावली सिद्धों की, सुरभित पाखुरियाँ आदि सरस नूतन प्रदेय हैं।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।